जाति व्यवस्था



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६ पटना ६

जाति व्यवस्था

नर्मदेश्वर प्रसाद

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
पटना विश्वविद्यालय

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली ६

मूल्य रु० ७ ५०
प्रथम संस्करण १९६५

मुद्रक
एवरेस्ट प्रेस ४ चमेलियान रोड
दिल्ली ६

पितामह
धनेश्वर प्रसाद
की पुण्य स्मृति मे

प्राक्कथन

भारतीय जाति-व्यवस्था पर लिखना आसान नहीं रहा है और इसके समस्त पक्षों का विवेचन तो लगभग असम्भव है। मुझे नहीं पता कि मैंने इस विषय पर उपलब्ध विशाल साहित्य में कुछ भी नया जोड़ा है। मैं सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि मैंने जाति व्यवस्था के संदर्भ में सामाजिक इतिहास की अन्तर्धाराओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, जाति-सम्बन्धी अनुसंधान की प्रवृत्तियों पर पिछले पिचहत्तर या सौ वर्षों में, शायद ही कोई शोध-कार्य हुआ है। आरम्भिक समाज वैज्ञानिक अधिकांशतः जाति व्यवस्था के कारण, उत्पत्ति और विकास का पता लगाने में व्यस्त रहे। आज की भाषा में उनके प्रयास को 'ऐतिहासिक दृष्टि' की संज्ञा दी जाती है। उनकी व्याख्याएँ और निष्कर्ष मुख्यतः ऐतिहासिक स्रोतों या प्रमाणों से लिये गए छिटपुट नमूनों पर आधारित रहे हैं जिनमें किसी प्रकार का अन्तःसम्बन्ध या तारतम्य नहीं होता था। इतिहास के परिप्रेक्ष्य की भी कदाचित उपेक्षा की जाती रही है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी उपलब्धियाँ नगण्य हैं। वस्तुतः जाति-शास्त्र को उनकी देन उच्च कोटि की थी। जाति-सम्बन्धी अध्ययन की नवीनतम प्रवृत्ति जातियों में सम्बन्धों, तनावों और सामंजस्यों—एक शब्द में सामाजिक प्रावैगिकी की ओर है। यह पद्धति अभी अपनी अविकसित अवस्था में है। जातिगत तनावों की गहराई एवं अन्य आयामों पर प्रकाश डालने वाली कोई भी अध्ययन-सामग्री अभी तक मेरे देखने में नहीं आई। मेरे ख्याल में अनुसंधान की पद्धति और उसके उपकरणों पर गम्भीरता से सोचने की अत्यधिक आवश्यकता है। एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में जाति के समुचित विश्लेषण के लिए प्राचीन और नवीन दोनों पद्धतियों के संशोधित रूपों का समन्वय आवश्यक है ताकि हमें दोनों का संतुलन उपलब्ध हो सके।

आज जाति केवल 'एकेडेमिक' अनुसंधान का विषय नहीं है। यह प्रशासकों, राजनीतिज्ञों और जन-सामान्य के लिए एक समस्या बन गई है। चाहे वह किसी राजनीतिक पार्टी का कार्यालय हो, या किसी विश्वविद्यालय का प्रांगण अथवा सामुदायिक योजना का ग्राम, देर सबेर जाति या जातिवाद पर अन्तहीन

वहम चल पड़ती है। इससे कोई नतीजा नहीं निकलता। अन्त में निहाय निरुपायता ही हाथ लगती है। विनोबा भावे ने एक बार कहा था कि जातिवा जनतंत्र की जीवनी शक्ति का क्षय कर रहा है। १६५७ के आम चुनाव प टिप्पणी करते हुए जयप्रकाश नारायण ने कहा था कि जाति ही एक पार्टी औ विचारधारा है जिसने यह चुनाव लड़ा। किसी राजनीतिक विचारधारा य आर्थिक कार्यक्रम का सम्बन्ध इन चुनावों से नहीं था। इसलिए जाति के बा और कसे का और अधिक पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है।

अन्त में मैं अपने उन सभी मित्रों, सहयोगियों और छात्रों के प्रति कृतज्ञ ज्ञापित करना चाहता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक में सच्ची दिलचस्पी ली कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर० एम० मकाइवर के साथ १६४८ में बिताये गए उन सुखद दिनों की याद अभी भी ताजा है जब उनके सा जाति-व्यवस्था की आधारभूत समस्याओं पर विचार विनिमय करने का अवस प्राप्त हुआ था। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के ही प्रोफेसर बनहार्ड जम्ट और मरियन डब्ल्यू० स्मिथ के विचारों से भी काफी लाभ हुआ है। मैं इ सभी विद्वानों के प्रति आभारी हूँ।

समाजशास्त्र विभाग, —नर्मदेश्वर प्रसा
पटना विश्वविद्यालय पटना

विषय-सूची

प्राक्कथन

आमुख—१

जाति-व्यवस्था का वर्तमान रूप	५
जाति-व्यवस्था का उद्भव और विकास	१५
जाति व्यवस्था का इतिहास	५२
हिन्दू धर्म और दर्शन	८८
सुधार आन्दोलन	९८
भारतीय अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण	१०६
जाति-व्यवस्था पर नागरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभाव	११४
जातिमूलक स्थिर धारणाएँ	१३५
जातीय पूर्वाग्रह	१५८
जाति-व्यवस्था तथा अन्य धार्मिक समुदाय	१८१
उपसंहार	२०४
संदर्भ	२२१

आमुख

भारत के ८४.१ प्रतिशत निवासी हिंदू हैं।[1] 'हिन्दुओं का सामाजिक संघटन, अर्थात् जाति-व्यवस्था, अपने ढंग का एक ही है। इसकी एक आश्चर्यजनक प्राचीन परम्परा है, जिसके कारण इसके मूलभूत सिद्धान्त अत्यन्त पवित्र और अपरिवर्तनीय माने जाते हैं। पर इन सिद्धान्तों को आज जनतन्त्र और स्वतन्त्रता सम्बन्धी आधुनिक राजनीतिक मान्यताएँ गहरी चुनौती दे रही हैं और किसी कदर, भारतीय जीवन में प्रवेश भी कर रही हैं। फिर भी यह सोचने की बात है कि भारत के समस्त सामाजिक जीवन पर हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था का गहरा असर है। यहाँ संयुक्त परिवार की प्रणाली है, बाल विवाह की प्रथा है, छूत अछूत का सवाल है, और समाज के कुछ लोगों को इतना हीन बनाकर रखा गया है कि उनको देखना भी पाप समझा जाता है उनकी छाया से भी परहेज किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में भला जनतन्त्र और स्वाधीनता की भावनाएँ किस प्रकार पनप सकती हैं? जनतन्त्र महज एक राजनीतिक नारा नहीं, एक सामाजिक दर्शन भी बनना है।

भारत के नए संविधान में लिखा है (१) "हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करनेवाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़-संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में आज इस संविधान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।[2]

(२) "राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।'[3]

(३) 'केवल धर्म, मूलवंश, जाति लिंग जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई नागरिक—(क) दूकानों सार्वजनिक भोजनालयों,

होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश के अथवा (ख) पूर्ण या आंशिक रूप में राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बन्ध अथवा शर्त के अधीन न होगा।'[४]

(४) 'राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी।'[५]

(५) 'अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।'[६]

अब समस्या है कि क्या जाति-व्यवस्था और जनतन्त्र का संयोग हो सकता है? क्या प्रजातान्त्रिक राज्य और जाति आधारित समाज का सह अस्तित्व सम्भव है? प्रजातन्त्र का तात्पर्य है कि राज्य सम्पूर्ण समुदाय की सम्मिलित शक्ति का वास्तविक अर्थ में, न कि केवल प्रतीक रूप में प्रतिनिधित्व करे। इस शासन प्रणाली का चरम लक्ष्य व्यष्टि होना है और इसकी बुनियादी शर्त होनी है सबके लिए समान अधिकार, समान सुविधा और समान अवसर। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्म विकास का उचित अवसर मिलना चाहिए अथवा, जैसा कि एरिक फ्रोम ने कहा है प्रत्येक व्यक्ति का निर्माणशील बनने का स्वाधीनता होनी चाहिए।[७] यों तो जनतान्त्रिक आदर्श और व्यवहार में विषमता हो सकती है परन्तु जब हम जनतन्त्र और जाति-व्यवस्था पर विचार करते हैं तब हमारे समक्ष मूलतः परस्पर विरोधी दो संस्थाएँ और दो प्रकार के आदर्श होते हैं। डा० भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है 'हिन्दुओं की समाज व्यवस्था को लीजिए और सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक न्याय की दृष्टि से इसकी परीक्षा कीजिए। आप देखेंगे कि यह ऐसा धर्म है जिसका उद्देश्य स्वाधीनता, समता और भाईचारे की स्थापना करना नहीं। यह धर्म ब्राह्मणों को अति मानव मानता है और हिन्दू-समाज के अन्य लोगों को उनकी पूजा करने का उपदेश देता है।'[८] जनतन्त्र का जाति व्यवस्था से यही मौलिक विरोध है। इसलिए हम समझते हैं कि भारतीय संविधान की उपर्युक्त धाराएँ महान् सामाजिक परिवर्तन की सूचक हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से भारत में औद्योगीकरण की बड़ी-बड़ी योजनाएँ कार्यान्वित करने का प्रयत्न हो रहा है। हम चाहते हैं कि भारत आधुनिक शक्तिमान राष्ट्र बने, और इसलिए आधुनिक विकास तथा औद्योगी

करण के ये सब आयोजन हैं। अब जो प्रश्न उठने वाला है या एक तरह से उठ भी चुका है, वह यह कि सन्तुलन कैसे प्राप्त किया जाए। विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र में भारत तीव्र गति से बढ़ रहा है, परन्तु जिन सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से आधुनिक यान्त्रिक सुविधाओं का उपयोग और नियन्त्रण होगा, वे सब शताब्दियों पुरानी हो गई हैं। ऐसे ही प्रसंग में अमरीकी संस्कृति का विश्लेषण करते हुए थी धान्स न बड़े मार्के की बात कही है

पुरातन संस्कृति का पतन इसलिए हुआ कि यूनानी और रोमन समाज के आदर्शों और उनकी संस्थाओं का अर्थात् उनके आदर्शवादी दर्शन और साम्राज्यवादी राजनीति का इतना अधिक विकास हुआ कि वे अपने जमाने के सीमित शिल्प विज्ञान को, विशेषतः उस समय की परिवहन-व्यवस्था को, पीछे छोड़कर बढ़ गए। ठीक इसके विपरीत, आज की मशीन हमारे सामाजिक चिन्तन और सामाजिक संस्थाओं से बहुत आगे बढ़ गई है जिसके कारण हमारी संस्कृति बुरी तरह संकटापन्न हो रही है।'[६] यही द्विधा न्यूनाधिक मात्रा में भारत के सामने भी है।

दूसरी मुख्य बात है कि क्या व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण कानून के जरिए सम्भव है? क्या संविधान की सभी धाराएँ, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों रूप में समाज द्वारा अंगीकृत हो सकेंगी? अनुभव बताता है कि व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण कानून के द्वारा नहीं, सामाजिक विवेक के द्वारा होता है। क्योंकि व्यक्ति को तो कानून दण्डित कर सकता है, परन्तु पूरी समष्टि को भला किस प्रकार दण्ड दिया जा सकता है? 'प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है'—यह हिन्दू-दर्शन केवल बौद्धिक अवधारणा है, यह कभी सामाजिक दर्शन नहीं बन सका। हिन्दू दार्शनिकों के एक हाथ में उनका दर्शन रहा है और दूसरे में मनु और दाहिने हाथ को कभी यह न पता चला कि बाएँ में क्या है।'[७] तात्पर्य यह है कि केवल कानून बना देने से ही काम नहीं चलता। देखा गया है कि कई कानून कभी अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, अदालती शादी कानून (द सिविल मैरेज एक्ट), जाति अयोग्यता उन्मूलन कानून (द रिमूवल ऑफ कास्ट डिसएबिलिटीज एक्ट), विधवा-विवाह कानून (द विडो रिमैरेज एक्ट १८५६), हिन्दू धार्मिक दान कानून (द हिन्दू रिलीजियस एण्डाउमेण्ट एक्ट), शारदा कानून (द शारदा एक्ट) बाल विवाह नियन्त्रण सम्बन्धी कानून (द चाइल्ड मैरेज एक्ट, १९२९) और अनेक कानून बने, परन्तु उनसे कोई ठोस सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सका। फिर भी इन कानूनों का इतना महत्त्व अवश्य है कि इनके द्वारा जाति-व्यवस्था के

मूलभूत सिद्धान्तों को चुनौती मिली है और उन पर आघात भी पहुँचा है।'[१०] (सन् १९२८ ई० में अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ) 'इस सम्मेलन का दृढ़ विचार है कि जाति-व्यवस्था राष्ट्रीय एकता की सबसे बड़ी बाधा है। जब तक इस व्यवस्था का मूलोच्छेद नहीं हो जाता तब तक हम राष्ट्रीय एकता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः यह सम्मेलन बुद्धिजीवियों तथा जन-साधारण को जाति-व्यवस्था के अनाचारों के प्रति जागरूक बनाकर इस व्यवस्था के उन्मूलन के लिए देश भर में आन्दोलन चलाने का निश्चय करता है।'[११] सन् १९३१ ई० में जस्टिस पार्टी के नेता ने कहा, 'भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न जाति-पाँति के समाप्त होने पर ही पूर्णतः साकार हो सकेगा।'[१२] ये सब उक्तियाँ तथा भारतीय संविधान की उपर्युक्त धाराएँ सामाजिक परिवर्तन के लक्षण हैं।

पर इन सबके बावजूद अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन क्यों नहीं होते? यह इसलिए कि समाज की पौराणिक धार्मिक धारणाएँ इस मार्ग में बाधा डालती हैं। इन धारणाओं में हमारी अगणित पीढ़ियों का युक्तिपोषण संचित है और इनमें अन्तर्निहित आधिदैविक विश्वासों के कारण सामाजिक परिवर्तन का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसी सामाजिक इन्द्रजाल से जाति-व्यवस्था को शक्ति मिलती है। अतः जब तक लोगों की जाति-सम्बन्धी चिरपोषित माया भंग नहीं होगी तब तक जाति-व्यवस्था भी क़ायम रहेगी।

अध्याय २

जाति-व्यवस्था का वर्तमान रूप

जाति क्या है ? इसकी वर्तमान स्थिति क्यों है ?—ये दो प्रश्न हैं जिनका उत्तर हमें ढूँढना चाहिए। हिन्दुओं की जटिल तथा विचित्र जाति-व्यवस्था की परिभाषा और व्याख्या के प्रसंग में विद्वानों ने इस विषय पर बहुत-कुछ लिखा है। जब व्यक्ति का सामाजिक दर्जा पूर्व निश्चित रहता है, जिसमें कि सब लोग अपना अपना भाग्य लेकर जन्म लेते हैं और उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती है, तभी वर्ग जाति का चरम रूप धारण करता है और जाति बन जाने के बाद वर्ग की गतिशीलता सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। सिद्धान्ततः जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समुदाय कई परतों में सर्वथा स्थायी तथा अटल रूप से बँट जाता है।[1] हूज ने जाति की परिभाषा देते हुए इसे ऐसा सामाजिक वर्ग बताया है जिसकी सदस्यता (क) जन्म से ही निश्चित हो जाती है और (ख) उसके साथ ही विशेष प्रकार के रूढ़िगत प्रतिबन्ध और सुविधाएँ अनुलग्न रहती हैं। इस वर्ग के प्रति समाज के अन्य सदस्यों का एक विशेष दृष्टिकोण रहता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक सत्ता उसकी जाति के कारण तरह-तरह के जन्मजात प्रतिबन्धों तथा सहूलियतों से निर्धारित होती है।[2]

हिन्दुओं के सामाजिक श्रेणी विभाजन को व्यक्त करने के लिए यूरोप-वासियों में सबसे पहले पुर्तगालियों ने 'कास्टा' (कास्ट) शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ होता है नस्ल, गोत्र या प्रकार भेद।[3] सेनार्ट का कहना कि जाति एक प्रकार का संकुचित नियम है जिसमें दूसरों के लिए स्थान नहीं है और कम-से-कम सिद्धान्ततः, यह नियम कठोर रूप से पितृगति पर आधारित है। इसका अपना स्वतन्त्र, परम्परागत संघटन रहता है जिसमें एक मुखिया होता है और एक पंचायत। अवसर आने पर समस्त जाति की एक सभा बैठती है। वह सभा जाति के सम्पूर्ण अधिकारों से समन्वित रहती है। कोई विशेष त्योहार मनाने में भी जाति के सभी लोग समवेत रूप से उनमें भाग लेते हैं। जाति के सदस्यों की एकता का आधार होता है उनकी आजीविका, विवाह, भोजन तथा छूतछात-सम्बन्धी आचार विचार और सामाजिक प्रथाओं की एकरूपता।

जातीय संघटन के अधिकारों का क्षेत्र काफी प्रशस्त रहता है उन अधिकारों के बल पर ही जातीय संघटन अपने सदस्यों को अनुशासित करता है और अपराधी सदस्य के लिए अवसरोपयुक्त दण्ड का विधान करता है। यह दण्ड बहुधा स्थायी या अस्थायी सामाजिक बहिष्कार के रूप में दिया जाता है। बहिष्कार का भय वास्तव में इतना प्रबल होता है कि उसके आधार पर ही समुदाय की संघटित सत्ता क़ायम रहती है।[४]

सर एच० रिज़ले के अनुसार जाति का मतलब है—सर्वसामान्य नाम वाले परिवारों तथा दलों का संकलन, जो अपने को किसी विशेष पौराणिक देव या मानव की सन्तान मानते हैं और जिनका कोई वंशागत पेशा होता है। अधिकारी विद्वानों का मत है कि उस समुदाय में सम्मिलित परिवार या दल उस समुदाय के अभिन्न अंग होते हैं।[५] सर ई० ए० गेट के अनुसार जाति के दो मुख्य लक्षण हैं (१) जाति के सभी सदस्य एक ही मूल से अपना उद्भव मानते हैं, और (२) सब-के-सब एक ही वंशागत आजीविका या वृत्ति ग्रहण करने में विश्वास रखते हैं। उनका विचार है कि जाति समसंज्ञक, सजाति-पाणिग्राही (एंडोगेमस) लोगों के एक दल या दलों के संकलन को जाति कहना चाहिए। जाति के सदस्यों की एक परम्परागत वृत्ति होती है, और वे अपने को एक ही मूल से उद्भूत मानते हैं। साधारणतः उन्हें एक ही सजातीय समुदाय का अंग माना भी जाता है।[६] केतकर के मतानुसार भी जाति एक सामाजिक समूह है जिसमें (१) जाति की सदस्यता उन्हीं लोगों को प्राप्त होती है जिनके पूर्वज उस जाति के सदस्य थे, अर्थात् जाति के सदस्यों के घर पर ही उस जाति के सदस्य माने जाते हैं, और (२) उस समूह में अविजेय, अटल सामाजिक निषेध रहता है कि सदस्यगण अपनी जाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध न करें। इन शर्तों से बंधे हुए प्रत्येक समूह का एक विशेष नाम होता है। फिर कई छोटे-छोटे समूहों को मिलाकर एक बड़ा समूह बनता है और उसका भी एक सामान्य नाम होता है। पुनः ऐसे बड़े-बड़े समूह भी अपेक्षाकृत और बड़े समूह के अंग होते हैं जिसका भी एक अलग नाम रहता है।[७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जाति की दो बुनियादी शर्तें हैं (१) सजाति विवाह तथा (२) वंशागत (हेरिडिटी)। तदनुसार कोई पुरुष अपनी ही जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है। जातियाँ भी सजाति-पाणिग्राही उपजातियों में विभक्त रहती हैं। ये उपजातियाँ भी कई बहिर्जातीय पाणिग्राही (एक्सोगेमस) समूहों में विभक्त रहती हैं। हिन्दू क़ानून के सपिण्ड नियम के अनुसार रक्त-सम्बन्धियों के बीच विवाह वर्जित है। फलतः किसी भी पुरुष या नारी के माता पिता

के भाइयों या बहनों के वंशज भी आपस में शादी ब्याह नहीं कर सकते। इस प्रकार पितृपक्ष से छः पीढ़ियों तक तथा मातृपक्ष से चार पीढ़ियों तक के लोगों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध वर्जित है। इसके अलावा, अनुलोम विवाह (हाइपरगमी) की भी प्रथा है, जिसके अनुसार ऊँची सामाजिक स्थिति के लोग निम्नस्तरीय परिवार की कन्या तो ग्रहण करते हैं परन्तु अपनी कन्या का विवाह वैसे परिवार में नहीं करते। बहिर्जातीय विवाह की प्रथा भी अनेक रूपों में प्रचलित है। फिर गोत्र के नियम भी माने जाते हैं। सजाति पाणिग्राही समूह में किसी एक पूर्वज के वंशजों के समूह को, जिसमें बहिर्जातीय विवाह की प्रथा होती है, गोत्र कहा जाता है।[८] गोत्रों के नाम विभिन्न पुरातन ऋषियों के नाम पर रखे गए हैं। प्रायः एक गोत्र वाले लोगों के बीच शादी-ब्याह नहीं होता। यदा-कदा होता भी है तो उन कुल-कुटुम्बों को बाद ही देकर, जिनके बीच विवाह सर्वथा वर्जित माना जाता है। किसी भी व्यक्ति को वंशागति से जन्मना गोत्र प्राप्त नहीं होता, यह द्विज को ही उपनयन-संस्कार के समय मिलता है।

जाति-व्यवस्था के कारण खान-पान के अनेक प्रतिबन्ध माने जाते हैं। इन प्रतिबन्धों का सम्बन्ध आदिम निषेधों (टबू) से है। ऐसे सात निषेध बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। यथा,

(१) पंक्ति निषेध—इस निषेध द्वारा निर्धारित है कि किन किन जाति के लोगों की पाँत में बैठकर भोजन करना चाहिए, और किनकी पाँत में नहीं।

(२) पाक निषेध—इस निषेध द्वारा निर्धारित है कि किन व्यक्तियों द्वारा पकाया हुआ भोजन ग्रहण किया जा सकता है और किनके द्वारा पकाया हुआ नहीं।

(३) भोजन निषेध—इस निषेध द्वारा निश्चित है कि भोजन करते समय किन संस्कारों का पालन करना चाहिए।

(४) जल निषेध—अर्थात् किसके हाथ का पीना चाहिए और किसके हाथ का नहीं।

(५) खाद्य निषेध—इस निषेध के आधार पर विचार किया जाता है कि मनुष्य क्या खाए और क्या न खाए।

(६) हुक्का-पानी निषेध—अर्थात् किसका हुक्का-पानी पीना चाहिए और किसके साथ बैठकर पीना चाहिए।

(७) पात्र निषेध—अर्थात् खाने-पीने या भोजन पकाने के लिए किस प्रकार का बर्तन व्यवहार में लाना चाहिए।[९]

एक ही वहिर्जातीय-पाणिग्राही समूह के सदस्य एक साथ बैठकर खा सकते हैं। किन्तु विभिन्न वहिर्जातीय-पाणिग्राही समूह के सदस्य भी यदि उनके बीच शादी-ब्याह होता है तो एक पांत में बैठकर भोजन कर सकते हैं। सामान्यतः भोजन और विवाह सम्बन्धी निषेध साथ-साथ चलते हैं। यदि किन्हीं दो गोत्रों में वैवाहिक सम्बन्ध होना बन्द हो जाए और वे अपने समूह से बाहर विवाह करना छोड़ समूह के भीतर ही वैवाहिक सम्बन्ध शुरू कर दें तो उन दोनों का साथ बैठकर भोजन करना भी बन्द हो जायगा।[१]

पाक निषेध के तो कितने ही भेद हैं। सभी जातियों के लोगों में पक्के (अर्थात् दूध या घी के बने हुए) और कच्चे (अर्थात् जल सिद्ध) भोजन में अन्तर माना जाता है। पक्का भोजन तो साधारणतः शुद्ध समझा जाता है किन्तु कच्चा भोजन कोई हिन्दू तभी ग्रहण करेगा जबकि उसे उसके किसी स्वजातीय अथवा किसी ब्राह्मण ने पकाया हो।

भोजन निषेध भी कुछ कम दुर्बोध नहीं। इसके अनुसार किसी अपरिचित की छाया भी भोजन पर नहीं पड़नी चाहिए और न भोजन के साथ किसी अपवित्र वस्तु का सम्पर्क होना चाहिए। भोजन करने के पूर्व चमड़ा, कागज, सूती वस्त्र आदि वस्तुओं का स्पर्श नहीं करना चाहिए। गधा, सूअर और कुत्ते आदि का भी स्पर्श वर्जित है। जल-सम्बन्धी निषेध भी प्रायः इसी प्रकार के हैं।[११]

विभिन्न जातियों की संख्या के बारे में श्री एन० के० दत्त ने लिखा है कि प्राप्त आँकड़ों के अनुसार छोटी-बड़ी सभी जातियों की कुल संख्या तीन हजार से अधिक है जिनमें कुछेक की संख्या दर्जन डेढ़ दर्जन है तो कुछेक की लाखों की।[१२] परन्तु मूल वर्ण (जाति रंग) केवल चार ही हैं[१३] (१) ब्राह्मण (२) क्षत्रिय (३) वैश्य और (४) शूद्र। प्रथम तीन वर्णों को द्विजाति या द्विज कहते हैं। मनु के अनुसार अनेक जातियाँ इन मूल वर्णों के सम्मिश्रण से और तत्पश्चात् उन मिश्रित सन्तानों के पुनर्मिश्रण अथवा अन्तर्मिश्रण से निकली हैं। इस प्रकार से उत्पन्न जातियों में हैं (१) मूर्द्धाभिषिक्त (ब्राह्मण-क्षत्रिय) (२) माहिष्य (क्षत्रिय-वैश्य) (३) करण (वैश्य शूद्र) (४) अम्बष्ठ (ब्राह्म[ण-] वैश्य) (५) निषाद (ब्राह्मण शूद्र) (६) उग्र (क्षत्रिय शूद्र) (७) सूत (क्षत्रि[य-] ब्राह्मण) (८) मागध (वैश्य-क्षत्रिय) (९) वैदेह (वैश्य-ब्राह्मण) (१०) अयोग[व] (शूद्र-वैश्य) (११) क्षत्ती (शूद्र क्षत्रिय) (१२) चाण्डाल (शूद्र-ब्राह्मण) (१३) अवस[थ] (ब्राह्मण उग्र) (१४) आभीर (ब्राह्मण अम्बष्ठ) (१५) धिग्वार (ब्राह्मण अयोगव) (१६) पुक्कस (निषाद शूद्र) (१७) कुक्कुट (शूद्र निषाद)

(१८) स्वपाक (उग्री उग्र), (१९) वैन (वदेह अम्बष्ठ), (२०) सरिन्ध्र (दास्य प्रयागव) (२१) मैत्रेयक (वैदेह प्रयागव), (२२) मागध या दास (निषाद प्रयोगव), (२३) करवार (निषाद-वदेह), (२४), मेद (वैदेह निषाद), (२५) आन्ध्र (वदेह-करवार), (२६) पाडु सौपाक (चाडाल वदह), (२७) अहिंडिक (निषाद-वैदेह), (२८) सोपाक (चाडाल पुक्कष), (२९) अन्तेवासिन् (चाडाल निषाद) ।[१४]

जातियों की आधुनिक विस्तृत तालिका के लिए जे० एच० हट्टन लिखित 'कास्ट इन इडिया (भारत की जातिया) नामक पुस्तक देखनी चाहिए। उन्होंने ६०० जातिया और बहिष्कृत जातियों की सूची दी है। परन्तु यह सूची भी नितान्त सर्वांगीण नहीं है।

अस्तु, जाति एक प्रकार की सामाजिक इकाई है। प्रत्येक जाति को अपना विशेष आदर्श और नैतिक विधान रखने की आजादी है। प्रत्येक जाति को अधिकार है कि वह अपने किसी सदस्य का बहिष्कार कर द, और पुन उसे अपने मे शामिल कर ले। इस काम के लिए जाति की पचायत या बिरादरी ही न्यायपीठ है। परन्तु सभी जातियो के धर्माधिकारी ब्राह्मण है। अधिकारत ब्राह्मण सृष्टि म सवप्रमुख है। अन्य सभी जातियाँ ब्राह्मणा म नीच हैं। ब्राह्मणा के बाद स्थान है राजपूता और भूमिहारो (निम्नकोटि के क्षत्रियो या ब्राह्मणो) का। तत्पश्चात् वैश्य हैं और वश्या के नीचे शूद्र (कहार, कुरमी, गोप, भुइयाँ आदि)। परन्तु सबसे नीचे हैं अस्पृश्य या अछूत (डोम, चाडाल, दुसाध, चमार आदि)।

जाति-व्यवस्था के अन्तगत व्यक्ति को जन्म लेते ही एक निश्चित वातावरण मिलता है। इस वातावरण से उसको न तो मनाडमता विलग कर सकती है और न निधनता, न सफलता, न असफलता।[१५] उसके सभी प्रकार के व्यवहार और सम्पर्क उसकी जाति के नियमो द्वारा नियमित होते हैं, यहा तक कि वर-वधू या पेशे के चुनाव म भी उसे जाति के नियम मानने पडते हैं। सक्षेप मे, व्यक्ति अपनी जाति के आचार विचार के अनुसार ही शादी-ब्याह, खान पान, कपडा लत्ता और पूजा-पाठ कर सकता है। क्या जन्म, क्या मृत्यु क्या विवाह क्या उपनयन, जाति-व्यवस्था के अन्तगत कही भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की गुजाइश नही। पर्वों तक का भी जाति के आधार पर वर्गीकरण किया गया है—जैसे, श्रावणी पूर्णिमा ब्राह्मणा का पर्व है तो विजयादशमी क्षत्रियो का, दीपावली वश्यो का, तो होली शूद्रा का। व्यक्ति का सामाजिक मान भी उसकी जाति के आधार पर ही निर्धारित होता है। इसी प्रकार एक जाति की तुलना मे दूसरी जाति का भी मान स्थिर किया जाता है।

जाति-व्यवस्था में आज अनेक प्रकार के परिवर्तनों का सूत्रपात हो गया है। आर्थिक सांस्कृतिक तथा वृत्ति-मूलक क्षेत्रों में सर्वत्र सामाजिक वर्गों की अनुप्रस्थ (हारिजॉन्टल) तथा उदग्र (वर्टिकल) मान्यताएँ काम कर रही हैं। विभिन्न वर्णों और जातियों में अधिकार और कर्तव्य में बुनियादी रद्दोबदल हो गई है। ब्राह्मण अब धर्माधिकारी धर्मोपदेशक अथवा नीति विधायक नहीं रहे। यों कुछ वैसे ही ब्राह्मण आज भी मिल जाते हैं परन्तु धर्म शिक्षा और धर्मोपदेश पर ब्राह्मण जाति का एकाधिकार अब नहीं रहा। योद्धा क्षत्रियों का भी अस्तित्व मिट-सा गया है। वैश्यों का रूप भी बदला हुआ है। अलबत्ता शूद्र और दलित जातियों की स्थिति व्यवहारतः पूर्ववत् ही है। परन्तु किसी जमाने में ब्राह्मण धर्म-पुरोहित थे क्षत्रिय सामन्तीय शासक (एक विशेष युग में), वैश्य बुर्जुआ और शूद्र एवं दलित जातियाँ सर्वहारा—यह आधुनिक साम्यता मात्र कपोल-कल्पना नहीं। विषय की गहराई में उतरने पर हम देखेंगे कि हिन्दुओं की सामाजिक गतिविधि के इतिहास में इन पाँचों वर्गों के संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

पनिक्कर[११] ने भारत में बहुजातिक समाज में स्थायित्व की भूरि भूरि प्रशंसा की है। उनका मत है कि जाति-व्यवस्था नहीं रहती तो भारत बर्बर हो गया होता। हॉरिग ने भी माना है कि जाति व्यवस्था के कारण समाज में स्वच्छता और सुव्यवस्था की भावना को प्रोत्साहन मिलता है और किसी मानी में, इसके द्वारा हिन्दू-समुदाय में अन्तर्गत विभिन्न वर्गों में एकता बनी हुई है।[१०] ये बातें नितान्त विवादास्पद हैं। यदि जाति-व्यवस्था के कारण स्वच्छता बढ़ती है तो दूसरी ओर इसके कारण अस्वच्छता भी कायम रहती है। जैसा कि पी० जान ने कहा है साधारणतः हिन्दू लोग सफाई-सम्बन्धी स्वच्छता की अपेक्षा त्योहार या पद-सम्बन्धी स्वच्छता पर अधिक ध्यान देते हैं। रासायनिक दृष्टि से जल कितना भी गन्दा क्यों न हो यदि वह धर्मपूत या पवपूत है तो एक हिन्दू अविलम्ब उस जल का व्यवहार करेगा।[१८] दूसरे इसी असमञ्जसपूर्ण, अनेकात्मक (प्लूरल) समाज-व्यवस्था के कारण भारत में राष्ट्रीयता की भावना कभी विकसित नहीं हो सकी। इसी अनेकात्मक समाज के कारण यहाँ न तो नैतिकता का कोई सर्वमान्य स्तर निर्धारित हो सका और न समुष्ट सामाजिक जीवन का विकास हुआ।

यों तो जाति-व्यवस्था अटल और अपरिवर्तनीय मानी जाती है, पर क्या यह समाज विज्ञान की दृष्टि से कभी सम्भव है? जाति तो हमेशा से परिवर्तित होती रही है और आज भी परिवर्तनशील है। कभी-कभी कोई बहिर्जातीय दल

कालांतर में बहुत बड़ा हो जाने के कारण छोटे छोटे समूहों में बँट जाता है।[१६] इसके अतिरिक्त कितने ही नये-नये सजाति-पाणिग्राही समूहों का बराबर निर्माण होता रहता है, जिन्हें आप जाति या उपजाति कह सकते हैं। एक स्थान से दूसरे नये स्थान पर जाकर बस जाने से भी जाति या उपजाति में परिवर्तन हो जाता है। आजीविका में परिवर्तन होने से अथवा नया धार्मिक या सामाजिक रस्म रिवाज अपनाने से भी जाति बदल जाती है। सामाजिक मान में भी वृद्धि होने से ऐसे परिवर्तन की सम्भावना है। कुछ दिनों पहले तो विधवा विवाह को मानने या न मानने से भी जाति या उपजाति में फेर-बदल हो जाता था। इसलिए जाति विशेष के लोग समाज में अपनी जाति की मर्यादा बढ़ाने के लिए सामूहिक रूप से प्रयास करते हैं। प्रचार और संगठन से भी जाति का नाम और सामाजिक स्थिति बदल जाती है। जैसे, आसाम के बुनियाल बनिये वास्तव में डोम हैं पर अब वे साधारणतः बनिया ही कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक दसवर्षीय जनगणना में विश्वकर्मा ब्राह्मण (पांचाल शिल्पी), गहलोत राजपूत (चमार) नाई ब्राह्मण (हज्जाम) आदि आदि नई जातियाँ बन जाती थीं।[१७] विभिन्न जनगणनाओं के प्रतिवेदन का तुलनात्मक अध्ययन करने से जातियों में होने वाले इन परिवर्तनों का पता चल जाएगा। उपर्युक्त जातियों में से अधिकांश ने सन् १९२१ ई० की जनगणना में क्षत्रिय या वैश्य होने का दावा किया था। सन् १९३१ ई० की जनगणना के समय इन लोगों ने अपने को एक विशेष प्रकार का ब्राह्मण बताया।[२१] अब हम कायस्थों के विषय में विचार करें। वे सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। अठारहवीं सदी में वे महज शूद्र समझे जाते थे। अब उनका स्थान ब्राह्मणों के बाद ही आता है। कायस्थों की कुछ उपजातियाँ, जैसे माथुर और निगम, अपने को ब्राह्मण ही कहती हैं। उनकी अन्य उपजातियाँ अपने को क्षत्रिय मानती हैं और चित्रगुप्त वंशीय होने का दावा करती हैं। इसी प्रकार अहीरों का दावा है कि वे चन्द्रवंशीय यादव क्षत्रिय हैं। अंग्रेजी शिक्षा और सरकारी नौकरी से भी लोगों को अपनी जाति बदलने में मदद मिली है।[२२] इस तरह हम देखते हैं कि जाति का रूप स्थिर नहीं। इसमें अक्सर सामाजिक परिवर्तन होते रहते हैं हाँ, यह दूसरी बात है कि ये परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे और सूक्ष्म रूप से हों। इस प्रसंग में एथनोवेन ने बड़ी ही मौजू और पुरमजाक बात कही है कि आधुनिक भारत में मोटर के खलासियों ने शोफरों या मोटरचालकों की एक जाति बना ली है और अब शायद उन लोगों में रोल्स-रायस जाति और फोर्ड जाति बनेगी तथा राल्सरायस जातिवाले फोर्ड जातिवालों

के घर में न शादी-ब्याह करेंगे, न उनका छुआ खाएँगे।[२३]

इन परिवर्तनों के बावजूद जाति-व्यवस्था के बंधन ढीले पड़ने के कोई लक्षण अभी दिखाई नहीं पड़ते, बल्कि विभिन्न जातियों की प्रवृत्ति में बस एक ही परिवर्तन हुआ है कि वे अब ऊँची जाति बनना चाहती हैं और अधिक सामाजिक मर्यादा प्राप्त करना चाहती हैं। इस तरह का परिवर्तन जाति-व्यवस्था में निरंतर हो रहा है, परन्तु व्यवस्था के रूप में जाति विधान ज्यों-का-त्यों क़ायम है। उसके विघटन का कोई चिह्न नहीं दीखता। विभिन्न जातियों में एक प्रकार की वर्ग-चेतना जग गई है और सामूहिक एकता की भावना से अनुप्रेरित होकर वे और ज़ोर से जाति-व्यवस्था से चिपटना चाहती हैं। पहले थोड़े से व्यक्ति थे जिन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात था कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं। वे अपने अच्छे-बुरे कर्मों के लिए पृथ्वी पर ब्राह्मणों के प्रति और मरने के बाद देवताओं के प्रति अपने को उत्तरदायी समझते थे। उन्हें कर्मवाद में अटूट विश्वास था। परन्तु अब लोगों के दिमाग़ में जातीय भावना दूसरे ही प्रकार से काम करने लगी है। प्रत्येक जाति अपने सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने को संघटित कर रही है। जातीय संघटन के आधार पर चुनाव भी लड़े जाते हैं। इस तरह से आज 'अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा' 'अखिल भारतीय कायस्थ महासभा', 'त्रिवेणी संघ', 'अखिल भारतीय दलित जाति लीग' आदि संघटन बन गए हैं। इन परिवर्तनों को देखते हुए हम क्रोबर, कीज और बूगल के मतों पर विचार करना चाहिए। क्रोबर के अनुसार जाति किसी प्रजातीय इकाई या सजाति पाणिग्राही वंशागत उपखण्ड होती है, जिसका समाज-व्यवस्था में अन्य उप-खण्डों की तुलना में ऊँचा या नीचा स्थान रहता है।[२४] कीज के अनुसार, 'जिस समाज में जाति-व्यवस्था है उसमें अनेक सजाति पाणिग्राही खण्ड या जातियाँ होती हैं। उन जातियों में सामाजिक दृष्टि से सर्वथा अलग रहने की प्रवृत्ति रहती है और वे वंशानुगति द्वारा अपने को चिरस्थायी बनाए रखती हैं। वे सांस्कृतिक आधार पर परम्परा से प्रतिष्ठित होती हैं और उपर्युक्त चारों प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होकर अपनी सामाजिक सीमाओं के अन्दर अनेकानेक जातियों में बँट जाती हैं।'[२५] बूगल के अनुसार, 'अलग अलग रहने की प्रवृत्ति, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद भाव तथा वंशागत व्यवृत्ति कौशल—ये तीनों तत्त्व जाति में शामिल रहते हैं। अतः जाति प्रथा की पूर्ण परिभाषा प्राप्त करने के लिए इन तीनों तत्त्वों पर विचार करना चाहिए। हमारा विचार है कि यह

व्यवस्था उस समाज में पाई जाती है जिसमें पित्रागति के आधार पर अनेक विशिष्ट समूह होते हैं, जो परस्पर ऊँची-नीची स्थिति मे रहते हैं या परस्पर-विरोधी होते हैं। जिस समाज म भी यह व्यवस्था है उसमे सामाजिक उन्नति, समूह-सम्मिश्रण या रक्त मिश्रण तथा व्यवसाय-परिवतन के सिद्धान्त का विरोध किया जाता है, बल्कि ये बातें बदाश्त नहीं की जाती जाति व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज परस्पर विरोधी, छोटे-छोटे अनेक समाजो मे बँट गया है।"[११]

हिन्दू-समाज मे आज तीन प्रकार की प्रगतिशील शक्तियाँ काम कर रही हैं। सबसे पहले वे लोग हैं जो जाति प्रथा को एक बुराई मानते हैं और इसका अन्त कर देना चाहते हैं। दूसरे लोग वे हैं, जो समझते हैं कि जाति व्यवस्था मे कुछ बुराइया आ गई हैं और उन बुराइयो को दूर करके इस व्यवस्था को पुन शुद्ध मौलिक रूप मे लाने की चेष्टा होनी चाहिए। तीसरे प्रकार के लोग वे हैं, जो जाति-व्यवस्था को हिन्दू-सस्कृति का आवश्यक अग समझते हैं किन्तु अस्पृश्यता को मिटा देना चाहते हैं। इन तीन प्रकार के लोगो के अलावा एक चौथा दल भी है जो समझता है कि हम अपने आदर्शों स भ्रष्ट हो गए हैं, अत हमें समाज का पुनगठन करना चाहिए और जिन आदर्शों पर हमारे पूवज चला करते थे, उन्हें पुन प्रतिष्ठित करना चाहिए। इस प्रकार के विचार रखने वाले लोग जाति-व्यवस्था की एक नई परिभाषा देते हैं। व समाज को चार प्रकार के समूहो म बाँटते हैं (१) आदर्शवादियो का समूह, जो जीवन के प्रति दूरदर्शी दृष्टिकोण बरतता है और अपने आदर्शों के अनुरूप जीवन बिताता है, (२) परार्थवादियो का समूह जिनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत सकुचित होता है, फिर भी जो अपने जीवन से आगे की बात भी सोचते हैं, (३) वस्तुवादियों का समूह, जो अपने जीवन स आगे की बात नहीं सोचते (४) उन लोगो का समूह जिनका कोई अपना दृष्टिकोण नहीं होता और घसे-पिटे जीवनयापन करते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार इन सबको क्रमश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है।[१२] सन् १९०१ ई० के बाद की प्रत्येक जनगणना के अवसर पर इस बात की थोडी आलोचना हुई है कि जनसख्या-सम्बन्धी प्रतिवेदन म जाति-सम्बन्धी बातो का बयानवार उल्लेख किया जाता है। यह भी आरोप लगाया गया है कि जनगणना के समय व्यक्ति पर जाति की मुहर लगाकर जाति-व्यवस्था को एक प्रकार से नव-जीवन प्रदान किया जाता है। इसलिए जनगणना के प्रतिवेदन म जाति-सम्बन्धी किसी प्रकार के विवरण का उल्लेख करने के विरुद्ध सन् १९३१ ई० मे आन्दोलन चलाने की

की चेष्टा हुई। अत कहना चाहिए कि लोग जाति-बन्धन को ढीला करना चाहते हैं और विभेद की दीवारों को भी तोड़ देना चाहते हैं।[२८]

इन बातों के बावजूद, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, जाति प्रथा अपने समस्त मूलतत्वों के साथ अभी भी क़ायम है। बल्कि, जो लोग इसके विरुद्ध हैं, उनकी भी एक विशेष जाति मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि जाति-व्यवस्था एक प्रबल सामाजिक प्रमाण और चिरकालिक सांस्कृतिक घटना है।

अध्याय ३

जाति-व्यवस्था का उद्भव और विकास

हिन्दू जाति-व्यवस्था समाज में प्रचलित दन्तकथाओं पर आधारित है। पर इन दन्तकथाओं के प्रणेता कौन थे और उन्होंने इन कथाओं की रचना क्योंकर की? दूसरे शब्दों में, हम जानना चाहते हैं कि जाति-व्यवस्था का आरम्भ और विकास किस प्रकार हुआ। जैसा कि काक्स ने बताया है, जब हम पूछते हैं कि भारत में जाति-व्यवस्था कैसे शुरू हुई तो वस्तुतः हम जानना चाहते हैं कि हिन्दू समाज की स्थापना किस प्रकार हुई।[1] परन्तु इस व्यवस्था की उत्पत्ति के सामाजिक कारण ढूंढने की चेष्टा व्यर्थ है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था प्रादुर्भूत नहीं होती, उसका विकास ही होता है।[2] अतः जाति-व्यवस्था के उद्भव या विकास को समझने के लिए हमें इतिहास के अनेक पेचीदा और लम्बे रास्तों से गुजरना होगा।

जाति के उद्भव को लेकर कितने ही सिद्धान्त प्रचलित हैं। इनमें से मोटे तौर पर पाँच सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। उनमें भी तो सबसे पहले परम्परागत सिद्धान्त उल्लेखनीय है, जो मनु-संहिता में मिलता है। तत्पश्चात् आता है आजीविका-सम्बन्धी सिद्धान्त, जिसके सबसे प्रसिद्ध प्रवर्तक हैं नेस्फील्ड। तत्पश्चात् आती हैं इबेट्सन की जनजातीय और धार्मिक व्याख्या, सेनाट की परिवार और समुदायपरक व्याख्या, रिज़ले की प्रजाति और अनुलोम विवाह परक व्याख्या।[3] इन सिद्धान्तों को हम दो प्रशस्त श्रेणियों में बाँट सकते हैं (१) वे सिद्धान्त जो सांस्कृतिक व्याख्या पर आधारित हैं (२) वे सिद्धान्त जो प्रजातिपरक व्याख्या पर आधारित हैं।

प्रो० सोरोकिन का विचार है कि "प्रजाति, चयन और वंशागति-सम्बन्धी बातें लोगों को बहुत दिनों से ज्ञात थीं। भारत के धार्मिक ग्रन्थों में यह सिद्धान्त रूप से प्रतिपादित है कि विभिन्न जातियाँ ब्रह्मा की देह के विभिन्न अंगों से निकली हैं और उनमें मौलिक अन्तर है। फलतः रक्त का सम्मिश्रण या अन्तर्जातीय विवाह या प्रजातियों के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क सबसे बड़ा अपराध माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक मान या दर्जा उसके माता पिता के रक्त के आधार पर निर्धारित होता है। प्राचीन समाज में लोगों

का प्रजनन-तत्त्व की बातें खूब मालूम थीं और वे उस पर अमल भी करते थे।"[४] इस प्रकार सोरोकिन ने प्रजातीय विशुद्धता वाली बात मान ली है। उनका यह भी विचार है कि आज से हजारों वर्ष पहले हिन्दुओं में ऐसे भी राजनीतिज्ञ थे जिनका विधान में गहरा प्रवेश था।

सर्वश्री एन० ई० वान्स और हावर्ड बेकर ने लिखा है, 'यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भारतीय जाति-व्यवस्था के आधार स्तम्भ चार वर्ण हैं, और चारों वर्णों का तात्पर्य चार रंगों से है। ये वर्ण हल्के श्वेत से लेकर गाढ़े कृष्ण तक हैं। इस व्यवस्था के शीर्ष पर पुरोहित ब्राह्मण हैं जो लगभग ३००० वर्ष ई० पू० भारत पर आक्रमण करने वाले आर्यों के वंशज हैं।[५] आर्यों और उनके द्वारा पराजित रंगीन जातियों की संस्कृतियों की तुलना करते हुए टवायनबी ने लिखा है 'दोनों जातियों की शक्ति-सामर्थ्य उनकी अपनी अपनी संस्कृति के प्रतिलोम अनुपात में थी।[६] वस्टरमार्क का भी कहना है कि आर्यों की विजय के पूर्व भारत में कृष्ण-वर्ण के लोगों की आबादी थी। इन कृष्ण-वर्ण जनजातियों के प्रति उद्धत प्रकृति आर्यों को घोर घृणा और शत्रुता थी, जिसे उन्होंने अपने तथा पराजित लोगों—शूद्रों—के बीच तरह-तरह की बाधाएँ खड़ी करके अभिव्यक्त किया।[७]

उपर्युक्त सभी मत प्रजातीय विरोध भावना और रक्त विशुद्धता के सिद्धान्त पर आधारित हैं। दूसरे शब्दों में, इन मतों का तात्पर्य है कि जाति-व्यवस्था आर्यों और द्रविड़ों की पारस्परिक सामाजिक शत्रुता के कारण बनी।

(१) परम्परागत सिद्धान्त

जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में सभी धर्मशास्त्रों स्मृतियों और पुराणों में उल्लिखित तथा सर्वाधिक प्रचलित सिद्धान्त ऋग्वेद के मण्डल १०, सूक्त ९०, मन्त्र ११ १२ में मिलता है। ऋग्वेद के इस अंश को पुरुष-सूक्त कहते हैं।

इस सूक्त में जातियों की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बताया गया है, फिर भी यह सूक्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे मनु ने भी निरपवाद भाव से मान लिया है। इस पौराणिक कल्पना का प्रभाव इतना प्रबल है कि इसके प्रति किसी भी युग में हिन्दुओं ने कोई शंका प्रकट नहीं की है।

जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुरुष-सूक्त के अतिरिक्त अन्य कई सिद्धान्त या छोटी-मोटी पौराणिक कल्पनाएँ प्रचलित हैं। इन सबका भी उल्लेख हिन्दुओं के विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है या कि समय-समय पर युग की आवश्यकताओं के अनुरूप रचे गए हैं। इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति के विषय में तरह

तरह की बातें बताई गई हैं। शतपथ ब्राह्मण (११, १, ४) में लिखा है कि भू, भुव, स्व, इन तीन शब्दों से ही वर्णों की उत्पत्ति हुई। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१११, १२, ६) में लिखा है कि वेदों से ही वर्ण उत्पन्न हुए—सामवेद से ब्राह्मण, यजुर्वेद से क्षत्रिय और ऋग्वेद से वैश्य। पुनः शतपथ ब्राह्मण (१४, ४, २, १३) के अनुसार देवताओं और असुरों से वर्णों की उत्पत्ति हुई। हरिवंश (११८, ६) में अमृत और मर्त्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर वर्णों का उद्भव माना गया है।[६] जगत् पिता ब्रह्मा की उत्पत्ति किस प्रकार सोने के अण्डे से हुई, उसका वर्णन करने के बाद मनु ने लिखा है कि मानव-सृष्टि की रचना के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न किए।[९] परन्तु दूसरे श्लोक में मनु ने कुछ दूसरी ही बात कही है—'ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग किये। एक भाग पुरुष हुआ और दूसरा स्त्री। उस स्त्री में ब्रह्मा ने विरज उत्पन्न किया। किन्तु, सर्वोत्तम द्विजो, जान लो कि मैं ही हूँ सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा, जो पुरुष विरज की कठिन तपस्या से स्वयमेव आविर्भूत हुआ।'[११] महाभारत में भी वर्णों की उत्पत्ति के विषय में कई तरह की कहानियाँ आई हैं। शान्ति पर्व में भृगु ने लिखा है, "जातियों में कोई अन्तर नहीं है। शुरू में ब्रह्मा ने इस विश्व की रचना की और सब लोग जन्मना ब्राह्मण थे। तत्पश्चात् अपने अपने कर्मों के अनुसार लोग विभिन्न जातियों में बँट गए। जिन द्विजों को इन्द्रिय-सुख प्रिय था, जो क्रोधी और हिंसालु थे, रक्तिम वर्ण के थे तथा जिन्होंने अपना कर्तव्य को त्याग दिया था, वे सब क्षत्रिय हुए। जिन द्विजों ने अपना कर्तव्य छोड़कर गो-पालन की वृत्ति अपना ली और खेती बाड़ी के काम करने लगे, तथा जिनका वर्ण पीत था, वे सब वैश्य कहलाए। जो द्विज असत्य भाषण, दुष्टाचरण में लिप्त रहते थे, लालची थे तथा सभी तरह के कुकर्म-सुकर्म किया करते थे और जिनका वर्ण काला था, वे शूद्र हो गए। इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार ब्राह्मणगण विभिन्न जातियों में बँट गए।[१२] महाभारत में उसी पर्व में यह भी उल्लिखित है कि चार जातियों की उत्पत्ति श्रीकृष्ण से हुई। तब फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने सर्वोत्तम सौ ब्राह्मणों को अपने मुख से, सौ क्षत्रियों को अपनी भुजाओं से, सौ वैश्यों को अपनी जंघा से और सौ शूद्रों को अपने चरणों से उत्पन्न किया।[१३] श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है "श्रीकृष्ण ने कहा, 'गुणों और कर्मों के आधार पर मैंने लोगों को चार जातियों में बाँट दिया।[१४] विभिन्न जातियों के कर्तव्यों का वर्णन गीता के अठारहवें अध्याय में आया है।

जातियों की उत्पत्ति को लेकर इस तरह की और भी कितनी परस्पर-विरोधी कहानियाँ मिलती हैं। डा० म्यूर ने तो संस्कृत-ग्रन्थों से मनुष्य के जन्म और जातियों की उत्पत्ति से सम्बन्धित उद्धरणों का १५२ पृष्ठों में संकलन प्रस्तुत किया है। दूसरी भी एक ज्ञानवर्द्धक पुस्तक है—'मूल संस्कृत पाठ' ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट खंड १, जिसमें जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक पौराणिक कल्पनाएँ और गाथाएँ संग्रहीत हैं। उसमें लेखक ने प्रश्न भी उठाया है कि वैदिक युग में जातियों का अस्तित्व था भी या नहीं।

वस्तुतः धार्मिक ग्रन्थों में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति का तर्कनिपुण वर्णन नहीं मिलता, प्रत्युत् उनमें तरह-तरह की अटकलबाजी है। कहीं तो रहस्यपूर्ण व्याख्या दी गई है, कहीं पौराणिक कल्पना का सहारा लिया गया है और कहीं-कहीं पर केवल युक्तिपोषक वर्णन मिलता है। लेखकों ने छूटकर कल्पना और अनुमान से काम लिया है। किन्तु सर्वाधिक प्रचलित कहानी यही है कि जातियाँ पुरुष या ब्रह्म के मुख, बाहु, जंघा और चरण से प्रादुर्भूत हुईं। इस विषय का सबसे प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में आया है। किन्तु जिस रूप में यह बात कही गई है उससे सन्देह होता है कि यह व्याख्या शायद एक रूपक मात्र है। पुराणों में या मनु के 'मानव धर्मशास्त्र' में वैदिक ग्रन्थों की यह रहस्यवादी रूपक शैली छोड़ दी गई है और सृष्टि का वर्णन स्पष्ट वक्तव्यों में किया गया है।

अब प्रश्न उठता है कि जातियों की उत्पत्ति के इतने विभिन्न विवरण क्यों मिलते हैं? सम्भवतः इनके नियमों की परीक्षा करने पर पता चले कि जातियों का विधान किसी न्यायाधिष्ठित व्यवस्था ने किया।

वर्णों के कर्तव्य

किन्तु इस विश्व की रक्षा के हेतु उसने, जो सर्वाधिक ज्योतिर्मय है, उन लोगों के लिए जिनकी उत्पत्ति उसके मुख, भुजा, जंघा और पाँव से हुई थी, विभिन्न (कर्तव्य और) उपजीविकाएँ नियत कर दीं।[१५]

ब्राह्मणों के लिए उसने पठन और पाठन (वेदों का), अपने और दूसरों के लाभ के लिए यज्ञ करना, दान देना और दान लेना निश्चित किया।[१६]

क्षत्रियों को उसने आज्ञा दी कि वे प्रजा की रक्षा करें, दान दें, यज्ञ करें, वेदाध्ययन करें और इन्द्रिय सुखोपभोग में स्वयं को लिप्त करने से बचें।[१७]

वैश्य पशुपालन करें, दान दें, यज्ञ करें, वेदपाठ करें, व्यवसाय करें, ऋण दें और ज़मीन जोतें।[१८]

"शूद्रों के लिए उसने एक ही कर्म निर्धारित किया कि वे उक्त तीन वर्णों की विनयपूर्वक सेवा करें।"[१८]

ब्राह्मणों की गरिमा

"मनुष्य नाभि के ऊपर (नीचे की अपेक्षा) पवित्रतर कहा जाता है, अतएव स्वयं अस्तित्ववान (स्वयंभू) ने इसको अपना पवित्रतम (अंग) मुख घोषित किया है।"[२]

"चूंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति (ब्रह्मा के) मुख से हुई है और चूंकि वह अग्रजन्मा है और वेदों पर उसका अधिकार है, इसलिए वह अधिकारतः इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।"[२१]

"क्योंकि स्वयं अस्तित्ववान ने पूर्ण आत्म संयम करने के बाद उसे ही सर्वप्रथम अपने मुख से उत्पन्न किया, ताकि बलि की वस्तुएँ देवताओं तक पहुंचाई जा सकें और मनुष्य (पितृस) और इस विश्व को सुरक्षित रखा जा सके।[२२]

"कौन सजीव प्राणी उसका अतिक्रमण कर सकता है जिसके मुख से निरन्तर स्वयं देवतागण बलि में चढ़ाई गई वस्तुओं का उपभोग करते हैं और मृतक के लिए समर्पित वस्तुओं को पितरों का भोग बनाते हैं।'[२३]

ब्राह्मण का जन्म ही तब विधान की निधि की सुरक्षा के हेतु पवित्र विधान का एक शाश्वत अवतरण है और वह ब्रह्मा के साथ ही सलयित हो जाता है।'[२४]

"एक ब्राह्मण, जब वह अस्तित्व ग्रहण करता है, पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ और उच्चतम और सभी उत्पन्न प्राणियों के स्वामी के रूप में जन्म लेता है।'[२५]

विश्व में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब-कुछ उसकी उत्पत्ति की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण की सम्पत्ति है, वस्तुतः ब्राह्मण इस सबका अधिकारी है।"[२६]

'एक ब्राह्मण चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान्, एक महान् दिव्यता का स्वामी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अग्नि चाहे वह (यज्ञ के हविकुंड के लिए) ले जाई जाए अथवा न ले जाई जाए, एक महान् दिव्यता है।[२७]

ब्राह्मणों का दंड

चौल संस्कार (कपाल मुंडन) प्राणदंड के स्थान पर ब्राह्मण के लिए उपयुक्त है, परन्तु दूसरे वर्णों (के लोगों) को प्राणदंड भुगतना ही पड़ेगा।[२८]

"किसी भी ब्राह्मण की हत्या न की जाए यद्यपि उसने सभी (सम्भव)

अपराधस्वरूप किए हुए एक अपराधी को वनवास दिया जाए और उसकी सारी सम्पत्ति (उसके पास हो) छोड़ दी जाए और (उसके शरीर को) कोई आघात नहीं पहुंचाया जाए।[२३]

'किसी ब्राह्मण की हत्या करने से अधिक बुरा अपराध पृथ्वी पर ज्ञात नहीं है। अतएव एक राजा किसी ब्राह्मण को जान से मारने का विचार भी अपने मन में न लाए।[२४]

शूद्रों का जन्म—दासता के हेतु

परन्तु एक शूद्र चाहे वह क्रीत हो अथवा अक्रीत, दास-कार्य के लिए विवश किया जा सकता है क्योंकि स्वयं अस्तित्वमान ने उसकी सृष्टि ब्राह्मणों के दास होने के लिए ही की है।[२५]

एक शूद्र यद्यपि वह अपने स्वामी से मुक्ति पा चुका हो तथापि वह दासता से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि वह उसके जन्म से ही साथ लगा है। इससे उसे कौन स्वतन्त्र कर सकता है?[२६]

'एक ब्राह्मण आश्वस्त होकर अपने शूद्र (दास) के सामान को जब्त कर सकता है क्योंकि उस (दास का) सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है उसका स्वामी उसके स्वत्व पर अधिकार कर सकता है।[२७]

एकमात्र ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र के लिए श्रेष्ठ उपजीविका घोषित है क्योंकि इसके अलावा वह जो कुछ भी करेगा उसका उसे कोई फल नहीं मिलता।'[२८]

'शूद्र को धन-संचय कदापि नहीं करना चाहिए यद्यपि वह (ऐसा करने में) सक्षम भी हो क्योंकि धन संचित करके रखने वाला शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ा देता है।'[२९]

दासता का पारितोषिक

'वे उसके नाम निजी परिवार (सम्पत्ति) से उपयुक्त जीवन निर्वाह-योग्य व्यय अवश्य ही आवंटित करें और यह उसकी योग्यता, उसके उद्यम और उनकी संख्या पर जिनका भरण-पोषण करने के लिए वह बाध्य है विचार के पश्चात् ही किया जाए।[२९]

'उच्छिष्ट भोज्य पदार्थ उसे अवश्य ही दिया जाए और पुराने वस्त्र, अन्न का अवशिष्ट और घरेलू उपस्कर आदि भी।'[३०]

शूद्रों का दंड

"एकज मनुष्य (एक शूद्र) जो एक द्विज मनुष्य को भद्दी गालियों के साथ अपमानित करता है, उसकी जीभ काटकर अलग कर दी जाएगी, क्योंकि वह निम्न वंश का है।"[३८]

"यदि वह किसी (द्विज) का नाम और उसकी जाति का उल्लेख तिरस्कार के साथ करता है, तो उसके मुख में दस अंगुल लम्बी जलते लोहे की कील घुसा दी जाएगी।"[३९]

"यदि वह अहंकारवश ब्राह्मणों को कर्त्तव्य की शिक्षा देता है तो राजा उसके मुख और कानों में गरम तेल डाल दिये जाने की व्यवस्था करेगा।"[४०]

'निम्न वर्ण का मनुष्य चाहे वह जिस किसी भी अंग से क्यों न (त्रि वर्णों में से किसी भी मनुष्य को) उच्चतम (वर्णों के) व्यक्तियों को चोट पहुंचाय, उसका वह अंग ही काट डाला जाएगा, यह मनु का उपदेश है।'[४१]

"वह जो हाथ या डंडा उठायेगा, उसका हाथ काट लिया जाएगा, वह, जो क्रोध में अपने पांव से ठोकरें मारेगा, उसका पांव काट लिया जाएगा।'[४२]

'एक निम्न वर्ण का मनुष्य, जो उच्च वर्ण के मनुष्य के स्थान पर अपने को पदस्थापित करने का प्रयत्न करता है उसके कूल्हे पर तपते लोहे से दाग़ दिया जाएगा और उसे वनवास दे दिया जाएगा अथवा राजा उसके नितम्ब पर गहरा घाव करने की व्यवस्था करेगा।"[४३]

"यदि अहंकारवश वह (अपने से किसी वरीय पर) थूकता है, तो राजा उसके दोनों ही होठों को कटवाने की व्यवस्था करेगा। यदि वह (उस पर) मूत्र-त्याग करता है तो उसका शिश्न, यदि (उसके समक्ष) वायु निस्सरण करता है, तो उसकी गुदा।"[४४]

"यदि वह (किसी वरीय का) केश पकड़ता है तो राजा को चाहिए कि वह बिना हिचक उसके हाथ कटवा ले, इसी प्रकार (यदि वह उसके) पांव पकड़कर घसीटे, तो उसकी दाढ़ी गरदन अथवा अंडकोश।'[४५]

कतिपय वर्णों के साथ व्यवहार

"परन्तु चांडालों और श्वपाकों का निवासस्थान गाँव के बाहर होगा, वे अपपात्र होंगे और उनके धनस्वरूप कुत्ते और खच्चर ही होंगे।'[४६]

'उनके वस्त्र मृतकों की पोशाक होंगे, वे टूटी थाली में भोजन करेंगे, काला लोहा ही उनका गहना होगा, और वे आवश्यक रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते फिरते रहेंगे।'[४७]

शूद्र धर्मोपदेश प्राप्ति के अधिकारी नहीं

'एक शूद्र कोई ऐसा अपराध नहीं करेगा जिससे उसकी जाति चली जाए (पातक) और पवित्र धर्मग्रन्थों का पाठ नहीं सुनना उसे पवित्र विधान के पालन का अधिकार नहीं है (आर्यों के अधिकार) उसके लिए (इनके क्षत्रिय धर्मों के पालन करने का) कोई निषेध नहीं है।'[४८]

इसलिए शूद्र को कोई परामर्श न दिया जाए न ही उसे भोज्य का उच्छिष्ट ही दिया जाए न ही उसे देवभोग का प्रसाद ही मिले, न उसके (इस मनुष्य के) समक्ष पवित्र विधान की व्याख्या ही की जाए न (उस पर) तपस्या या प्रायश्चित्त करने का ही भार डाला जाए।'[४९]

'वह, जो किसी (शूद्र के लिए) पवित्र विधान की व्याख्या करता है अथवा उसे तपस्या करने या प्रायश्चित्त करने को बाध्य करता है उस (शूद्र) के साथ स्वयं भी असंवृत (नामक) नरक में डूब जाएगा।'[५०]

शूद्र की हत्या करने के लिए प्रायश्चित्त या शुद्धि

'एक बिल्ली एक नकुला एक नीलकण्ठ पक्षी एक मेंढक एक कुत्ता एक छिपकली एक उल्लू अथवा एक कौवे को मारकर कोई भी एक शूद्र की हत्या के पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है।'[५१]

यह स्पष्ट है कि पूर्व-वर्णित विधियाँ सामाजिक अन्याय से पूर्ण हैं यह भी प्रत्यक्ष है कि इनका निर्माण कुछ व्यक्तियों द्वारा अपने देशवासियों के अधिकांश को दास बनाने के स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से किया गया था परन्तु अधिकांश लोगों ने इन विधियों के विरुद्ध विद्रोह क्यों नहीं किया? विद्रोह हुआ कभी सफल कभी विफल, धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों में परिवर्तन के साथ ही सृष्टि की कहानियों और विधियों में भी परिवर्तन हुए हैं। हम अन्यत्र इस पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम कुछ अपेक्षाकृत आधुनिकतम सिद्धान्तों पर विचार करें।

प्रजातिक आगम

सर हर्बर्ट रिसले जाति-सम्बन्धी प्रजातिक सिद्धान्त के सर्वाधिक उद्भट व्याख्याता रहे हैं। उन्होंने नृ-तत्त्व के सम्बन्ध में प्रचुर शोधकार्य किया है। उन्होंने प्रजातिक उपकल्पना के आधार पर अपनी पुस्तक 'द पीपुल आफ इंडिया' लिखी। प्रथमतः रिसले जातियों के निर्माण की प्रक्रिया का विश्लेपण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार मोटे तौर पर छः विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं—(१) मूल निवासियों की एक सम्पूर्ण वनजाति, अथवा इनमें से

अधिकांश अपने आपको हिंदू धर्म की श्रेणी में अपने ही वनजातीय पदनाम (उपाधि) अथवा नवीन जाति-नाम के अधीन प्रविष्ट करा लेते हैं, जिन्हें स्तरीय जातियों से सुगमतापूर्वक विभेदीकृत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, उत्तरी बंगाल के राजवंशी, मध्य भारत के गोंड। (२) जाति के आर्थिक अथवा धृतिक इतने अधिक प्रकार हैं और इतना अधिक विस्तृत उनका फैलाव है तथा इनकी विशिष्टताएँ इतनी प्रमुख (महत्वपूर्ण) हैं कि प्रथम की साम्प्रदायिकता का आचरण तथा जाति विकास का मुख्य कारक अवेक्षित होती है। मौलिक प्रेरणा चाहे जो भी कुछ रही हो, यह तो मात्र पर्यवेक्षण का विषय है कि न केवल प्राय प्रत्येक जाति कहती है कि उसकी एक न एक या अनेक परम्परागत उपजीविका हैं, यद्यपि इसके कई सदस्यों ने उसका परित्याग भी कर दिया है, वरन नई उपजीविकाओं का स्वीकार कर लेने अथवा मूल उपजीविका में परिवर्तन से भी जातियों के कई उपखंड हो सकते हैं जो अन्तत एक विलग प्रत्यक्ष जाति के रूप में विकसित हो जाते हैं। (३) साम्प्रदायिक प्रकार में कुछ ही जातियाँ सम्मिलित हैं, जिन्होंने लोकोपकारक समुत्साहियों द्वारा प्रवर्तित एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। ये समुत्साही वे थे, जिन्होंने जन्मों के चक्र और कर्म के विधान से शीघ्रतापूर्ण मुक्ति प्रदान करने वाले कतिपय अध्यात्मवादी सूत्रों का विकास करने के बाद उन्हें यह समझाया कि संसार के सभी मनुष्य समान हैं अथवा किसी भी तरह इनके उपदेशों में विश्वास रखने वाले लोगों को तो एक समान होना ही चाहिए। (४) राष्ट्रीय प्रकार की जाति। कतिपय ऐसे समूह भी विद्यमान हैं जो सामान्यतया वर्तमानकालिक जाति के रूप में अवस्थित होते हैं और जो अतीतकालीन सम्प्रभुता की परम्परा को मानते हैं और एक साधारण वनजाति की अपेक्षा सभी अधिकतर रूप में एक संगठन की अनुरेखाओं (चिह्नों) को सुरक्षित रखते प्रतीत होते हैं। (५) देशान्तरगमन से निर्मित जाति—यदि किसी जाति के सदस्य अपना मूल निवासस्थान छोड़ देते हैं और भारत के किसी दूसरे भाग में जाकर बस जाते हैं तो उनमें मूल समूह से पृथक् हो जाने और एक पृथक् जाति के रूप में विकसित हो जाने की प्रवृत्ति होती है। (६) रीति में परिवर्तन से निर्मित जाति। प्रतिष्ठापित प्रथाओं की अवहेलना अथवा नवीन एवं प्रारम्भिक व्यवहारों तथा धर्म निरपेक्ष उपजीविका की स्वीकृति के परिणामस्वरूप नई जातियों का निर्माण प्राचीनतम काल से ही जाति-व्यवस्था की एक परिचित घटना है।[२४]

ऊपर उद्धृत महिमा में, रिसले स्पष्टतः जातियों की परम्परागत उत्पत्ति

और मनु द्वारा प्रतिपादित मिश्रित जातियों की आलोचना करने का प्रयत्न करते हैं। तत्पश्चात् रिजले प्रजाति-सम्पर्क की विधि का अनुमोदन करता है। 'संसार के इतिहास में जहाँ कहीं भी एक जनसमूह ने दूसरे जनसमूह को बलात् आक्रमण अथवा उसके राज्याधिकार को धीरे धीरे अधिकारच्युत करके पूर्णतया पराजित कर लिया है वहाँ विजित देश की महिलाओं को विजेताओं ने रक्षिता अथवा पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया है परन्तु अपनी पुत्रियों का विवाह अपने ही बीच में किया है। जहाँ ये दोनों जनसमूह एक ही प्रजाति के रहे हैं अथवा किसी भी प्रकार एक ही वर्ण के रहे हैं, वहाँ उनके बीच अनुलोम विवाह की प्रारम्भिक अवस्था शीघ्र ही समाप्त हो गई है और सम्पूर्ण सम्मेलन हो गया है। दूसरी ओर, जहाँ प्रजाति और वर्ण सम्बन्ध में सहजीय भेद ने हस्तक्षेप किया है और विशेषकर यदि प्रभावक जनसमूह अपने ही वर्ण के व्यक्तियों द्वारा निरन्तर प्राप्रेषित किये जाते रहे हैं वहाँ उद्विकास का क्रम भिन्न रीति पर होता है। तब प्रवृत्ति सङ्करों के एक भिन्न वर्ग—उच्चतर कुल के पुरुष और नीचतर कुल की स्त्रियों के बीच घटित अनियमित यौन सम्बन्धों के परिणाम के निर्माण की ओर उन्मुख होती है जो आपस में ही विवाह करते हैं और प्रायः सभी अभिप्रायों और उद्देश्यों के निमित्त एक ही जाति में हो जाते हैं। इस वास्तविक एवं दृढ़ अर्थ में जाति केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। यह अमरीकी गणराज्य के दक्षिणी राज्यों में भी अति स्पष्ट रूप में विद्यमान है जहाँ नीग्रो और विभिन्न मिश्रित प्रजातियाँ मुलाटोज, क्वाड्रून्स और ऑक्टरून्स प्रत्येक के बीच अपने अपने अन्तर्विवाह अधिकार उग्र रूप में आमन्त्रित हैं और विशिष्टतः वे श्वेत प्रजाति से अधिक विवाह करने से नितान्त वंचित हैं। कनाडा, मेक्सिको और दक्षिण अमरीका के सङ्कर-जातों में और भारत में यूरोपियनों में भी यही समान कुल-कुछ पर्यवेक्षित किया जा सकता है। जो देशजों के साथ अन्तर्विवाह नहीं करते और शुद्धरक्ती यूरोपियनों से केवल कभी कदा ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं।'[२३] अतः पर, भारत की सन् १९०१ की जनगणना में पर्याप्त मानवमितीय शोध करने के पश्चात् रिजले लिखते हैं 'जाति विद्या का आधुनिक विज्ञान इस आशा में विभिन्न शारीरिक प्रकारों को उनकी अभिन्न विशिष्टताओं के प्रसंग में परिभाषित एवं वर्गीकृत करने का प्रयत्न करता है कि जब पर्याप्त आँकड़े एकत्रित हो जाएँगे तब कुछ मात्रा में प्रकारों के बारे में ही लेखा-जोखा तैयार करना और उनकी रचना के विभिन्न तत्त्वों को प्रतिनिश्चित करना शायद सम्भव हो जाएगा और इस प्रकार मानव-जाति के

महान् परिवारों में से एक या दूसरे से उनके सम्बन्ध को स्थापित किया जा सकेगा।"[५४] इन सम्भावनाओं, जाति विद्या-सम्बन्धी अध्ययन और मानव मितीय शोध के आधार पर रिसले अपने वक्तव्य के साथ प्रकट होते हैं—"पूर्वी भारत में जाति-संगठन की विधि को निर्धारित करना स्वल्पतः ही एक विरोधाभास है कि एक मनुष्य की स्थिति उसकी नासिका की चौड़ाई के विपरीत अनुपात में परिवर्तित होती रहती है।"[५५] इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए रिसले ने उत्तर भारत की जातियों के लोगों के माप आदि लिये थे।

सैनाट का सिद्धान्त

सेनाट के अनुसार, "जातियाँ प्राचीन आर्यों की उन संस्थाओं के सामान्य सहज विकसित रूप हैं जो भारत की विचित्र अवस्थाओं के कारण विचित्र आकार ग्रहण करते चले गए। जाति-व्यवस्था के प्रारम्भ को वर्ण-विभाजन के रूप में इतिहास का भारतीय ईरानी अवधि के साथ अभिमाजित करना कठिन नहीं है, क्योंकि समाज का चार भागों में बँटा होना अविस्तारी पर्शिया और ऋग्वैदिक भारत में भी पाया जाता है। इस प्रकार प्राचीन पर्शिया में अथर्वा (पुरोहित), रथेस्था (योद्धा) और हुईतो (कारीगर) थे। एकमात्र प्रमुख अन्तर चतुर्थ वर्ग के सम्बन्ध में ही पड़ता है, जो पर्शिया में कारीगर-वर्ग था वही भारत में दास अथवा शूद्र वर्ग था। परन्तु यह अन्तर वस्तुस्थिति की अपेक्षा अधिकतर प्रकट या स्पष्ट है, यदि हम लोग इस तथ्य पर विचार करें कि हस्तशिल्प का कार्य भारत में दासों अथवा शूद्रों के लिए ही अधिकांशतः नियत था। भारतीय प्रणाली और पूर्वकालीन यूनानी और रोमन संस्थाओं के बीच सादृश्यता के निम्नलिखित बिन्दुओं की ओर वे निर्देश करते हैं। जैसे, सैरिया, मनजाति रोम में, परिवार, फ द्रिया फाईल यूनान में, और परिवार गोत्र और जाति भारत में। "गोत्र का तात्पर्य एक सस्थानुवर्ती अथवा स्थानानुवर्ती नामधारी समूह से है, जो अपनी सम्पूर्णता में एक समान पूर्वज से वंशानुक्रमित होने के लिए ख्यात है और यह पूर्वज उपयुक्त एक ऋषि, एक पुराण-पुरोहित अथवा एक साधु ही होना चाहिए। रोमन कभी भी अपने ही जेन्स की स्त्री से विवाह नहीं करते थे और रोमन कुलीन को भारतीय ब्राह्मणों की भाँति ही अनुलोम विवाह का अधिकार था, जिसका उन्मूलन रेक्स कैन्युलिया द्वारा दीर्घ संघर्ष के पश्चात् ही सम्भव हो सका। मिश्रित विवाह से उत्पन्न सन्तति को पवित्र कुलीन घराना की अपेक्षा निम्न स्थान का अधिकारी माना जाता था। जेन्स के मतों में मतारोपिता का प्रवेश

निषिद्ध था। विवाह के आधार पर स्त्री का अपने गोत्र से निष्कासन था। वे गोत्र में परिवर्तित हो जाते थे। भारतीय प्रथा का समानान्तर हमें रोमन कार्सेरेनिया में मिल जाता है। विवाह के प्रसंग में क्यूरिया समूह की प्रणाली का भारतीय गोत्र पद्धति से उल्लेखनीय समानता है और एक क्यूरिया की सदस्यता उन परिवारों के सदस्यों तक ही सीमित थी जिनसे समूह बना था। यहाँ तक कि अपरिचितों के साथ भोजन करने पर भी प्रतिबंध था। पारिवारिक भोजन पवित्र समझा जाता था और रोमन परिस्थितियों से केवल अपरिचित ही नहीं वरन् परिवार के वे सदस्य भी बहिष्कृत थे जो किसी अनुपयुक्त आचरण के द्वारा अपने आपको स्वयं भ्रष्ट कर चुके थे।

भारतीय समाज में जिस प्रकार हुक्का पानी बन्द करने का रिवाज है कुछ इसी प्रकार की प्रथा रोमन समाज में थी। इतना ही नहीं बल्कि भारतीय पंचायत-पद्धति की तरह रोम में पारिवारिक परिषद्, पैट्रिया पोटेस्टस और 'जेन्स' के प्रधान या मुखिया हुआ करते थे जिनको पारिवारिक या साम्प्रदायिक मामलों में फैसला देने का अधिकार होता था। उनके इस अधिकार को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थी।[२१] इन तथ्यों के आधार पर सेनार्ट ने निष्कर्ष निकाला है कि जाति-व्यवस्था के प्रमुख सिद्धान्त और लक्षण आर्य प्रजाति की सभी शाखाओं में परम्परा और रीति रिवाज के रूप में विद्यमान हैं।

सेनार्ट के विचारों से सहमत होना कठिन है। वे बहिर्जातीय विवाह के सिद्धान्त को भारतीय जाति-व्यवस्था का मुख्य आधार मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं। परन्तु इन उदाहरणों से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति पर रोशनी नहीं पड़ती। वास्तव में यह व्यवस्था ब्राह्मण युग के परवर्ती-काल की उपज है। उसके बहुत दिनों बाद, सूत्र-युग में, इसके नियमों को लोग चिर-सत्य मानने लगे। इसके पहले अन्तरजातीय विवाह खूब प्रचलित था। वैदिक युग के प्रारम्भिक दिनों में छोटी जाति के स्पर्श से अपवित्र हो जाने की बात अकल्पनीय थी। अन्तरजातीय भोजन निषेध का भी चलन नहीं था। सेनार्ट यह भी नहीं बतला पाते कि निम्नतम जाति, अर्थात् शूद्र की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। हम उनका यह कहना नहीं मान सकते कि ये वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आते हैं और केवल परवर्ती काल में ही इनकी अलग अलग जातियाँ बन गई, और इन जातियों का मूल स्रोत और लक्षण प्रारम्भ ही से उनके बीच विद्यमान था।[२२] अस्तु, इस विषय पर हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

इबेट्सन और नेसफील्ड के सिद्धान्त

इबेटसन के अनुसार जाति एक दृढ़ सामाजिक वर्ग से कुछ अर्थों मे विलग है। यह मत निगमनात्मक प्रतीत होता है। इबेटसन के ग्रन्थ से जाति व्यवस्था का प्रारम्भिक इतिहास समझने म सहायता नही मिलती। उन्होंने सभी प्रकार के समाज के लिए सामाजिक अन्तर अथवा विलगाव सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये है और हिन्दू समाज को एक विशेष घटना के रूप मे माना है। उनकी अपेक्षा कही अधिक सुस्पष्ट और विकसित सिद्धान्त नेसफिल्ड ने प्रस्तुत किया है। इन्होने संस्कृति या पेशे के आधार पर जाति-व्यवस्था का विवेचन किया है। वे प्रजाति-सम्बन्धी सिद्धान्त को नही मानते क्योंकि उनका कहना है कि जाति व्यवस्था सगठित होने के पहले ही जनसख्या बुरी तरह से मिश्रित हो गई थी। 'इस देश म आर्यों के आने के हजार वर्ष बाद ही जाति-सम्बन्धी वैवाहिक प्रतिबन्ध लागू हुए और इस समय तक आर्यों और भारत के मूल निवासियो के बीच रक्त सम्मिश्रण हो चुका था। ईसापूर्व २०० वर्ष या उससे भी अधिक दिनो बाद, मनु के समय म विवाह के सम्बन्ध मे जाति सम्बन्धी नियम लागू होने लगे थे। उस समय भी, जैसा कि मनु के लेख से प्रकट है, स्वय ब्राह्मण भी उन नियमो का सर्वदा पालन नही करते थे। मनु ने शूद्र या छोटी जाति की स्त्री से विवाह करने वाले अपने समकालीन ब्राह्मणो की बडी भर्त्सना की है, जिससे प्रकट है कि मनु के पहले, अर्थात् जब से आर्य आक्रमणकारियो ने भारत म प्रवेश किया (जो निश्चय ही 'मनुस्मृति' की रचना से लगभग १००० वर्ष आगे की बात है) ब्राह्मण या पेशेवर पुरोहित (क्योंकि उन दिनो ब्राह्मण जाति का अस्तित्व नही था) अपनी पसन्द की किसी भी स्त्री से विवाह कर सकते थे।"[४८] नेसफिल्ड का मत है कि प्रारम्भ मे पुरोहिताई पर ब्राह्मणो का कोई एकाधिकार नही था। यज्ञ के अवसर पर क्षत्रिय या युद्धनायक भी पुरोहित का काम कर सकते थे। परन्तु बहुत दिनो बाद, मन्त्रो और धार्मिक कृत्यो के कारण यज्ञ-कर्म बहुत ही कठिन और पेचीदा हो गया, और उसमे विशिष्टीकरण की आवश्यकता उत्पन्न हो गई। जिन लोगो ने इस पेशे मे विशेष कुशलता प्राप्त कर ली थी, वे ब्राह्मण हो गए। उन दिनो के सामाजिक जीवन मे यज्ञो का बहुत महत्त्व था। इसलिए समाज मे ब्राह्मणो को सर्वाधिक महत्त्व और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। आगे चलकर पुरोहिताई वंशानुगत होने लगी। ब्राह्मणो ने अपने को विशेष अधिकारो से युक्त एक अलग जाति के रूप मे सगठित कर लिया। यह देखकर अन्य वर्ग के लोगो ने भी आत्मरक्षा के लिए अथवा अपने अधिकारो को बचाने के लिए अपने को अलग अलग जातियों मे

संगठित किया। ऐसा करने में कुछ तो प्रतिरक्षा की भावना थी और कुछ अनुकरण की। 'जब ब्राह्मणों ने अपने को अनेक अधिकारों से युक्त एक विशिष्ट जाति के रूप में संगठित कर लिया तब उनकी देखा-देखी अन्य वर्ग के लोग भी अधिकाधिक अधिकार हथियाकर अपनी रक्षा करने को बाध्य हुए। उन्होंने केवल आत्मरक्षा के ही लिए ऐसा नहीं किया बल्कि ऐसा करने में वे उस वर्ग के लोगों का अनुकरण कर रहे थे जिनके प्रति वे कुछ शताब्दियों से आदर और सम्मान प्रदर्शित करने के अभ्यस्त हो चुके थे। पश्चिमी यूरोप के रोमन कैथोलिक पुरोहितों की तरह यदि ब्राह्मणों में भी अविवाहित रहने की प्रथा रहती, तो जाति की दीवार खड़ी करने का जो आदर्श उन्होंने उपस्थित किया उसका समाज के ढाँचे पर शायद कोई असर नहीं पड़ता।'[१६] संक्षेप में, नेसफिल्ड का कहना है कि 'जाति में रक्त का प्रश्न नहीं बल्कि कर्म का प्रश्न है।'

नेसफिल्ड की बहुतेरी स्थापनाएं गलत हैं। यह ठीक नहीं जँचता कि जाति-व्यवस्था इतने परवर्ती युग में उत्पन्न हुई। नेसफिल्ड ने वर्णों की जटिलता का प्रश्न उठाया है। परन्तु वर्ण क्या इतने जटिल हो गए? इसके लिए कौन-से लोग उत्तरदायी हैं? यदि कहें कि आत्मरक्षा के आधार पर जाति-व्यवस्था का विकास हुआ तो यह भी सही नहीं होगा, क्योंकि तब धन्धों और पूजा की जाति नहीं बन पाती।

इस व्यवस्था की उत्पत्ति और विकास का सविस्तार विश्लेषण करते समय हम नेसफिल्ड के मत का पुनः उल्लेख करेंगे।

जाति का जन जातीय आधार

कुछ विद्वान् मानते हैं कि जन-जातीय प्रवृत्तियों के कारण जाति-व्यवस्था का विकास हुआ। इस मत की पुष्टि उन्हें वेस्टरमार्क के निम्नलिखित विचार से होती है:

'जंगली लोग अनेकानेक जन-जातियों या कबीलों में बँटे रहते हैं और उनके बीच परस्पर क्रूर घृणा की भावना रहती है। वे आपस में शादी विवाह नहीं करते। भाषाएँ उनकी एक ही मूल से भले निकली हुई हों, उनके बीच इतना अलगाव रहता है कि महज एक पतली-सी नदी या कोई छोटी पहाड़ी अटल विभाजन रेखा बनकर उन्हें चिरकाल के लिए आपस में मिलने नहीं देती।'[१]

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतीत होता है कि जब आर्यगण जन जातीय अवस्था में थे, तभी जाति-व्यवस्था का विकास हुआ। लेकिन आर्यों के प्राचीनतम

साहित्य, ऋग्वेद में, पुरुष-सूक्त को छोड़कर, जोकि परवर्ती काल की रचना माना जाता है, कहीं भी जाति-व्यवस्था का कोई चिह्न नहीं मिलता। यदि जन जातीय स्रोत से जाति-व्यवस्था का उद्भव हुआ रहता तो निश्चय ही यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्यु, सृंजय आदि जन-जातीय नाम इस व्यवस्था में भी अवश्य पाए जाते।

जो लोग जन जातीय आधारवाले सिद्धांत को मानने वाले हैं, उनका विचार है कि इस व्यवस्था के विकास में आर्यों की अपेक्षा आदिवासियों का अधिक हाथ था। जिन आदिवासियों ने आर्यत्व स्वीकार नहीं किया, उनमें पशु चिह्न आधारित बहिर्जातीय विवाह और जन-जातिगत अन्तरजातीय विवाह की प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। इस सम्बन्ध में विद्वानों का कहना है कि 'आर्यों की विजय के बाद भी भारत के आदिवासियों ने अपने पारस्परिक सांस्कृतिक विभेदों को नहीं भुलाया। ये सामाजिक विभेद ही आगे चलकर जातिभेद के कारण बन गए। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि उत्तर भारत में, जहां आर्यों का प्रभाव सबसे अधिक है, छूत अछूत का भेद उतना प्रबल नहीं है, जितना कि दक्षिण भारत के द्राविड़ों में। जाति-सम्बन्धी नियमों की पाबन्दी दक्षिण भारत के ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के बीच ही नहीं है बल्कि विभिन्न अब्राह्मण सम्प्रदायों के बीच भी है।'[११] इस विषय पर दूसरा भी एक मत है कि भारत के लोग प्रजातीय दृष्टि से मुख्यतः द्राविड़ और मुंडा हैं। इसलिए द्राविड़ और मुंडा आदि प्रजातियों का हिंदू संस्कृति और सामाजिक संगठन पर गहरा असर है। क्रीट द्वीप की प्राग्यूनानी सभ्यता के अवशेषों की अत्याधुनिक छानबीन से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। परन्तु यह पता नहीं चलता कि "किस प्रकार भारतीय आर्यों ने जाति-व्यवस्था, पुनर्जन्म, कर्मवाद, मायावाद आदि सिद्धांतों के आधार पर अपनी विशिष्ट संस्कृति का विकास किया। क्योंकि यूरोप या एशिया, कहीं भी आर्यों की अन्य शाखाओं में ये गुण नहीं पाए जाते।'[१२]

बवीलोन व उर तथा अन्य प्राचीन शहरों की सुमेर सभ्यता के विषय में हमारी जानकारी बढ़ रही है। कहा जाता है कि सुमेर और द्राविड़ एक ही प्रजाति के लोग थे। अब यह भी अनुमान किया जाता है कि सुसभ्य द्राविड़ों ने आर्यों से युद्ध में परास्त होकर भी कालक्रम से उनके ऊपर सांस्कृतिक विजय पाई। स्लेटर ने अपनी पुस्तक 'द ड्रेवीडियन एलिमेण्ट इन इंडियन कल्चर' में लिखा है कि जाति-व्यवस्था मूलतः द्राविड़ संस्कृति की उपज है, जिसे अर्ध-सभ्य आर्यों ने अपना लिया। अपनी पुस्तक 'एन्शियण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशंस' में पार्जीटर ने लिखा है कि द्राविड़गण आर्यों के पुरोहित बन गए,

जिससे उनको ब्राह्मण जाति का गढ़।

ये सब बड़ी आकर्षक और मनोरंजक कल्पनाएँ हैं किन्तु इनसे कोई बात तय नहीं हो पाती। सिन्धु घाटी में प्राप्त पुरातात्विक प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्राविड़ और सुमेर एक ही थे। दूसरी विचारणीय बात यह है कि आर्यों के आने से पहले भारत की कैसी दशा थी, इसका हमें बहुत विश्वसनीय ज्ञान नहीं है।

मीज का वर्ण सिद्धान्त

समाज के विभिन्न नैतिक स्तरों को लेकर डॉ॰ गौल्थरस एच॰ मीज ने जाति-व्यवस्था के विषय में एक वर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं, 'क्या पूर्व क्या पश्चिम—सर्वत्र प्रारम्भ में योग्यता और अयोग्यता के आधार पर जाति या वर्ण भेद प्रचलित थे। आगे चलकर इन्हीं भेदों का आनुवंशिक और आर्थिक रूप हो गया।'[१३] उनके मतानुसार मानव-समाज में मनुष्य *का स्वाभाविक और उचित स्थान उसके वर्ण द्वारा निर्धारित होता है।* उनका कहना है कि वर्ण द्वारा लोगों की सामाजिक उपयोगिता ज्ञात होती है। चारों वर्णों से पता चलता है कि समाज में कौन-से लोग सर्वाधिक सामाजिक प्राणी थे और कौन-से अत्यन्त असामाजिक। स्वस्थ सुगठित समाज में वर्ण और वर्ण में कोई भेद नहीं होता।[१४]

डॉ॰ मीज ने वर्ण-व्यवस्था की भूरि भूरि प्रशंसा की है। परन्तु वर्ण का क्या तात्पर्य है? क्या उससे छोटे-बड़े सामाजिक ओहदे का बोध होता है? या कि उसे हम सामाजिक मनःसात्त्विक समूह मानें? यदि गुणों के आधार पर सामाजिक वर्गों का संगठन सम्भव है तब प्रश्न उठता है कि क्या इस तरह की बात कभी भारत में थी भी? इन प्रश्नों की सफाई के लिए हमें मनु के 'मानव धर्मशास्त्र' की सहायता लेना चाहिए। उससे ज्ञात होता है कि सामाजिक दर्जे पर्व-त्योहार या धार्मिक नियमों के आधार पर बनते थे, न कि चरित्र के आधार पर। यह ठीक है कि मनुष्य के व्यक्तिगत गुण या अवगुण से समाज में उसका स्थान तय होता है फिर भी यह आवश्यक नहीं कि किसी सामाजिक वर्ग में जितने भी व्यक्ति शामिल हों उन सबमें एक ही तरह के गुण पाए जाएँ। सामाजिक स्तर भेद में मनुष्य के व्यक्तिगत चरित्र या विश्वास का कभी कोई महत्त्व नहीं रहा है।[१५]

रंग

"वर्ण व्यवस्था का एक कारण रंग भेद भी था, क्योंकि वर्ण का अर्थ ही

होता है रग।'[६६] इस मत को भी सवाशत स्वीकार करना कठिन है। वण शब्द के कितने ही श्रथ होते हैं, जसे वाह्याकृति, रग, जाति, प्रकार-भेद, आदि। मनु ने वण का प्रयोग जाति के श्रथ म किया है। श्री एन० के० दत्त और श्री जी० एस० घुर्ये जमे भारतीय विद्वाना न रग भेद वाले सिद्धात का एक प्रकार से स्वीकार भी कर लिया है। परतु उन्होंने ऐसा कोई एतिहासिक प्रमाण नही दिया है जिससे पता चले कि श्वेत रग वाले आर्यों और काले रग वाले द्राविडा मे शत्रुता थी। दूसरे क्या प्रमाण है कि आय श्वेत थे? क्योंकि आर्यों के देवता राम और कृष्ण, मेघ श्याम रग के माने गए ह। अस्तु इस विषय की चर्चा हम आगे करेंगे।

सिद्धातो का मूल्याकन

हिंदू जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रचलित सिद्धातो का यथासम्भव सक्षिप्त वणन हम उपर कर चुके है। इनम स किसी भी सिद्धान्त को समस्या के समाधान की एकमात्र कुजी नही समझना चाहिए। जाच करने पर कोई भी सिद्धात खरा नही उतरता। ऐसी दशा म हम क्या करें? क्या हम सभी सिद्धान्ता को जोड दें?—और तब, क्या जाति-व्यवस्था के कारणा का पता लग जाएगा? इस प्रणाली को अपनाने से वस्तुत कोई लाभ नही। हिंदू जाति-व्यवस्था अनेक प्रकार के तत्त्वा के सयोग से बनी है और इस प्रकार बहुत ही जटिल और सश्लिष्ट हो गई है। इतिहास क्रम से भारत पर अनेक आक्रमण हुए और कितनी ही प्रजातिया यहाँ आइ। विभिन्न युगा म विभिन्न प्रकार की सस्थाएँ बनी, तरह-तरह की सरकारें बनी और इन सबकी छाप भारतीय समाज पर पडी है। इसलिए इन तमाम बाता का विश्लेषण करना होगा और तब इस व्यवस्था की विशषताआ की व्याख्या करनी होगी। भारतीय इतिहास के विभिन्न युगा का अध्ययन करके पता लगाना पडगा कि प्रत्यक युग म जाति व्यवस्था किस रूप म थी। अब तक इस प्रश्न का जो कुछ भी अध्ययन हुआ है उसम युग की परिस्थितिया को पृथक छोड दिया गया है। विद्वाना ने साधारणत कौटिल्य के अथशास्त्र, मनु क 'मानव धमशास्त्र', याज्ञवल्क्य की 'स्मृति' आदि ग्रन्था पर तो विचार किया है, परन्तु जिन तत्त्वा के आधार पर इन ग्रन्था के निष्कष स्थापित हैं उनकी ओर ध्यान हा नही दिया है। ये ग्रन्थ तो महज घटनाआ के समान हैं और जब तक घटनाआ की प्रक्रिया का विवेचन नही किया जाता, तब तक घटनाएँ अथहीन रहती हैं। घटनाए वस्तुत तिथिबद्ध रहती हैं और एक दिन पुरानी पड जाती है। दूसरी ओर एतिहासिक प्रक्रिया अन्त सलिला

है जो संस्कृत के 'विश' से मिलता-जुलता है। परन्तु हिन्दू समाज में वैश्य वर्ण के लोग द्विज थे। सम्भव है कि प्रारम्भ में अन्य गण कृषि-कार्य किया करते हों, परन्तु आगे चलकर वे नीचे गिर गए।

अब प्रश्न उठता है कि शूद्र कौन थे। प्राच्य विद्या के यूरोपीय विद्वान् ऐसा मानते हैं कि शूद्र भारत के मूल निवासी थे। वे काले रंग के थे। उन्हें पराजित करके श्वेत रंग वाले आर्यों ने गुलाम बना लिया। यह सिद्धान्त सर्वांशतः अनुमान पर आधारित है। क्या प्रमाण है कि मूल आर्य गौर वर्ण के थे? वेदों में आर्य वर्ण और दास वर्ण का वर्णन है। अन्य धर्म ग्रन्थों में भी चार वर्णों का उल्लेख हुआ है जिनसे चार सामाजिक वर्गों का बोध होता है परन्तु क्या प्रमाण है कि वर्ण का अर्थ रंग ही था। जैसा कि न्यूमन वाक ने बताया है 'हमें मानना पड़ेगा कि प्राचीन काल में पंजाब में चारों प्रजाति के लोग रहा करते थे अर्थात् कुछ लोग गौर प्रजाति (काकेशियन) के थे कुछ लोहित प्रजाति (अमरीकी आदिवासी), कुछ पीत प्रजाति (मंगोल) और कुछ कृष्ण प्रजाति (हब्शी) के लोग थे। यदि गौर वर्ण ब्राह्मण भारतीय-यूरोपीय गौर प्रजाति के लोग थे और कृष्ण वर्ण वाले शूद्र थे तब लाल रंग वाले क्षत्रिय और पीले रंग वाले वैश्य का क्या होगा?' यह सिद्धान्त स्पष्टतः असम्भव है। हिन्दू धर्मग्रन्थों ने वर्ण भेद को रूपक माना है, जो एक हद तक विश्वासप्रद प्रतीत होता है। यथा भृगु ने उत्तर दिया "परमात्मा ने मानव सृष्टि की रचना की, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र तथा अन्य वर्गों का निर्माण किया। ब्राह्मणों का रंग गौर था क्षत्रियों का लाल वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला।" इस पर भारद्वाज ने कहा "यदि चारों वर्गों का जाति भेद उनके रंग के आधार पर किया जाएगा तब सभी जातियों में विश्रृंखलता दीख पड़ेगी। भृगु ने उत्तर दिया, "जातियों में कोई भेद नहीं। इस सृष्टि की रचना ब्रह्मा ने की और प्रारम्भ में सभी लोग ब्राह्मण थे। आगे चलकर वे लोग अपने अपने काम के अनुसार कई जातियों में बँट गए। जिन ब्राह्मणों को भोग विलास प्रिय था जिनकी प्रकृति हिंसालु और ओजस्वी थी, जिन्होंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया था और जिनका शरीर रक्त वर्ण का था वे सब क्षत्रिय कहलाये। जो ब्राह्मण पशु पालते थे, खेती करके अपना जीवन-यापन करते थे जिनका रंग पीला था और जिन्होंने अपने कर्तव्य का पालन छोड़ दिया था वे वैश्य बने। जो ब्राह्मण झूठ बोलते थे, लालची थे, सभी तरह के काम किया करते थे, दुष्टता में रत थे और अपवित्र तथा काले रंग के थे वे शूद्र हुए। इस प्रकार अपने अपने कर्म के अनुसार ब्राह्मण लोग

विभिन्न जातियों में बँटे, परन्तु यत्न करने का अधिकार और कर्तव्य उनमें से किसी के लिए भी सर्वदा वर्जित नहीं हुआ।"•1 इस प्रकार की अनेक व्याख्याएँ हैं। पुरोहित का सम्बन्ध धार्मिक कृत्यों से था। इसलिए वे पवित्रता के प्रतीक माने जाते थे। उनका वर्ण गौर बताया गया है। सेवा-कार्य में गंदगी का संस्पर्श रहता है, इसलिए दास शूद्रों का रंग काला माना गया है। आर्य देवताओं का गौर वर्ण दरअसल रूपकोक्ति है। कहीं कोई प्रमाण नहीं है कि वैदिक आर्य समजातीय समूह के लोग थे। वस्तुतः वैदिक ऋषियों तथा अछूतों का रंग काला था। इन सबके बावजूद जो लोग प्रजातीय दृष्टिकोण से इस समस्या का विवेचन करते हैं, उन्हें सम्भवतः उत्तर अमेरिका और दक्षिण अफ्रीका आदि देशों के वर्तमान प्रजाति संघर्ष से प्रेरणा मिलती है। ऐसे विषयों पर अस्पष्ट सादृश्य बहुधा भ्रामक होता है। उत्तर यूरोप अथवा किसी दूसरे ही उत्तरी क्षेत्र से नोर्डो अर्थात् आदि, आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के कृष्णवर्ण मूल निवासियों से उनका संघर्ष छिड़ा, जिसके फलस्वरूप वे त्वचा के रंग के आधार पर कई स्तरों में बँट गए। यह सिद्धान्त भी बहुत बड़ी पुरावृत्तिक (मिथिकल) स्थापना है। कुछ लोगों का विचार है कि मूल निवासियों में जिस परिमाण में आर्य रक्त का सम्मिश्रण हुआ, उसी के अनुसार भारतीय समाज-व्यवस्था में ऊँचा या नीचा स्थान प्राप्त हुआ। इस सिद्धान्त को माननेवाले लोग उत्तर अमेरिका के वर्णभेदों का उदाहरण देते हैं। परन्तु वे शायद भूल जाते हैं कि उत्तर अमेरिका के श्वेतांगों और कृष्णांगों के सम्मिश्रण से जो जातियाँ उत्पन्न हुई हैं उनके आधार पर सामाजिक स्तरों का निर्माण नहीं हुआ है। "शुद्ध रक्त वाले हब्शी या काउन्टून या औक्टरून जैसे मिश्रित जाति के लोग केवल अपनी ही जाति के अन्दर शादी ब्याह करते हैं, ऐसी बात नहीं। बल्कि इन सबकी एक मिली-जुली 'रंगीन जाति' है जो श्वेतांग समाज द्वारा बहिष्कृत है।" •2 रिजले का कहना है कि जिस जाति में आर्य रक्त जितनी मात्रा में है, उसके विलोम-क्रम में उस जाति की सामाजिक स्थिति निर्धारित है। यदि रिजले का यह सिद्धान्त ठीक है तब क्योंकर क्षत्रियों के मुकाबले जाट लोग नीची श्रेणी के माने जाते हैं, और दक्षिण भारत में अब्राह्मण जाति के लम्बाडी लोगों का सिर क्योंकर पतला और लम्बा है और क्योंकर ब्राह्मणों का सिर चौड़ा? पुनश्च मद्रास शहर के ब्राह्मणों की तुलना में कर्नाटक के अछूतों की नाक क्योंकर पतली है? इससे स्पष्ट है कि रिजले का सिद्धान्त मानव शास्त्र द्वारा प्रमाणित नहीं है। रिजले

का मत है कि किसी भी जाति का सामाजिक दर्जा उसकी नासिका-सूचक अंक के विलोम क्रम मे रहता है। यह भी सही नही।*३

उदाहरणो से समस्या का समाधान नहा होता है, फिर भी यदि हम हिंदुओ के वर्ग भेद जसी व्यवस्था कही ढूढना चाहे तो वह यूनान, रोम तथा मध्यकालीन जर्मनी, फ्रास और इग्लण्ड के इतिहास म मिल सकती है न कि उत्तरी अमरिका क भुलेटो और काउ्न समाज म। यूनान का समाज सामन्तवादी था, परन्तु उसम जन-जातीय सामाजिक सगठन क अनेक लक्षण थे। वहा का राजा एक साथ ही कबायली नेता और पुरोहित होता था। उसके नीचे अभिजात सामन्ता का दल था। उनके नीचे एथेन्स के घटा या स्पार्टा के पेरीकाई और हेलौट (रयत) का वग था। उनके भी नीचे दासा का वग था। परन्तु मानवशास्त्र की दृष्टि स उन लोगा म कोई विशेष अन्तर नही था। पेरीकाई और हलौट हारे हुए लोग थे। उनके *राजनीतिक आस्था के अनुसार ही उनका सामाजिक दर्जा तय हुआ था।* रोमन साम्राज्य के आरम्भ म भी यही बात देखन को मिलती है। हिंदू समाज का भी प्राय उसी ढग पर विकास हुआ। यहा आर्थिक हैसियत के आधार पर लोगा की राजनीतिक हैसियत निर्धारित हाने लगी। यूनान म राजतन्त्र का अत हो जाने पर राजनीतिक अधिकार अभिजात वग के हाथा मे आ गया। उस वग क लोगो ने शासन क अधिकारों के अलावा पुराहिताई के अधिकारों को भी अपने ही हाथा म रखने की कोशिश की। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज ज्या ज्या जनजातीय अवस्था से सामन्तवादी अवस्था की ओर बढ़ता है त्या-त्या सामाजिक अन्तर और असमानता का भार निम्न और अपक्षाकृत गरीब वर्गों के कधा पर पडता है। यूनान मे जब सामन्तवादी व्यवस्था पूण रूप स कायम हो गइ तब विभिन्न वर्गों क बीच समान स्तर पर शादी-व्याह की बात नापसद की जाने लगी और अन्त म बिलकुल रोक दी गइ। रोमन समाज को भी कुछ इसी प्रकार के दौर से गुजरना पडा। रोमवाल समझत थ कि प्लेबियनो (निम्न स्तर के लोग जनसाधारण) के साथ विवाह करने से उनका रक्त अशुद्ध हो जाएगा और उनके द्वारा अर्पित अर्घ्य देवताओं को स्वीकार नही होगा (देखिये मनु का धम शास्त्र)। भारत मे भी अनुलोम विवाह की अनुमति थी, परन्तु प्रतिलोम विवाह सवथा वर्जित था।

मध्यकालीन यूरोपीय समाज में सवत्र तीन-चार वग क लोग थे और उनमे सवशक्तिमान् राजा से लेकर रयत और गुलाम तक सबकी सामाजिक स्थिति

और राजनीतिक अधिकार बँटे हुए थे। इन सब विभेदों के बावजूद, वे सब-के-सब श्वेत अथवा गोरे प्रजाति के लोग थे। इसलिए अचरज की बात लगती है कि यूरोपीय विद्वान् प्रजाति-संघर्ष के दृष्टिकोण से हिन्दू जाति-व्यवस्था का विश्लेषण करते समय प्राचीन और मध्ययुगीन यूरोप के इतिहास की ये बातें भूल जाते हैं। यूरोप का यह इतिहास असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करता है कि एक जन-जाति द्वारा दूसरी जन-जाति के पराजित हो जाने पर यह आवश्यक नहीं कि उनके बीच सामाजिक अन्तर की दीवार भी खड़ी हो जाए। बल्कि बहुत-सी जगहों में देखा गया है कि आर्थिक साधनों का आधार खत्म हो जाने पर राजनीतिक अधिकार भी छिन गए हैं, जिससे फलस्वरूप और भी सामाजिक विघटन और पतन हुआ है। महान् पीटर के युग में रूस की यही दशा थी। क्या हम नहीं जानते कि राजनीतिक अधिकारों से हीन यहां के रयन लोग कभी मुक्त और सम्मानित नागरिक थे? प्राचीन और मध्ययुगीन यूरोपीय समाज में अनेकानेक स्तर बने हुए थे और उनके बीच अन्तर्जातीय विवाह और सम्भवतः अन्तर्जातीय खान पान वर्जित हो गया था। जर्मनी में तो कितने ही देवताओं के पुरोहितों और साधारण-जन के पुरोहितों के बीच भी अन्तर्जातीय खान पान बन्द हो गया।[७४]

व्यापारी और औद्योगिक वर्ग का उदय और विकास होने पर सामाजिक बन्धन ढीले पड़ने लगे। इतिहास बताता है कि बूर्जुआ (पूंजीपति) वर्ग के उदय के साथ एथेन्स का व्यापारिक और औद्योगिक साम्राज्य फैला। उसके बाद ही राजसत्ता व्यापारी वर्ग के हाथ में आ गई और सामाजिक बन्धन टूटने लगे। रोम में उद्योगों का विकास हुआ ही नहीं। सूला और मेरियस का गृह युद्ध अभिजात तथा मध्यवर्गों की आपसी लड़ाई थी। रोम के अभिजात वर्ग ने अन्त तक अपने को जन-साधारण से पृथक् रखा। शायद यही कारण है कि ईसाई धर्म की प्रजातान्त्रिक साम्यवादी प्रवृत्तियां रोमन कैथोलिक चर्च की नौकरशाही में तब्दील हो गईं।

उपर्युक्त पंक्तियों से प्रकट है कि हिन्दू जाति-व्यवस्था के उद्गम की व्याख्या न तो प्रजाति सिद्धान्त में मिलती है, न रंग भेद के सिद्धान्त से और न मन सिद्धान्त में ही। जन-जातीय वैदिक युग में जाति-व्यवस्था का कोई चिह्न नहीं था, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समाज कई वर्गों में बँटा हुआ था। तब क्या तत्कालीन भारतीय समाज जन-जातीय साम्यवाद के दौर से गुजर रहा था? परन्तु ऐसी बात भी नहीं क्योंकि वेदों में राजतन्त्र का स्पष्ट उल्लेख है। राजा के इर्द गिर्द सभिकों का एक गिरोह रहता था। आगे चलकर राज

काज से पुरोहित का कर्म पृथक कर दिया गया। इस प्रकार सैनिक सामंतों के वर्ग से पुरोहित वर्ग का उदय हुआ। सम्भवत उस समय तक रैयत वर्ग (विश और उसित) भी विकसित हो चुका था। कालान्तर में व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी कुछ इसी प्रकार उदय हुआ। वैदकालीन राज्य कबायली या जन-जातीय राज्य था। और उन दिनों तक वर्ग जाति में परिणत नहीं हुआ था। भोजन और स्पर्श-सम्बन्धी निषेध भी लागू नहीं थे। ऋग्वेद में आता है कि वामदेव नामक ब्राह्मण ने क्षुधार्त अवस्था में एक चाण्डाल (अछूत) के घर कुत्ते का मांस खाया। ऋग्वेद में ही एक दूसरे ऋषि ने कहा है "मैं चारण हूँ, मेरे पिता वैद्य और मेरी माँ पत्थर तोड़ने वाली। धन प्राप्ति की इच्छा से हम लोग तरह-तरह का आयोजन करते हुए पशु की तरह दूसरों का अनुगमन करते जीते हैं हे इन्द्र के लिए सोम रस प्रवाहित हो।"[२४] ऋग्वैदिक काल के उस जातिहीन समाज में धनिकों का एक उच्च वर्ग बन गया था जिसे महाकुल या मघवन कहते थे। उन दिनों वैश्य वर्ग भी क्षत्रियों से तथा स्वाधीन शूद्रों से जो कि खेती तथा अन्य निम्न कर्म में लगे हुए थे अपनी रक्षा करने के लिए व्यापारी संघ बना रहा था। जहाँ-तहाँ दासों का भी उल्लेख मिलता है।

परवर्ती युग अनिवार्यतः वर्ग संघर्ष का युग था जिसमें प्रत्येक वर्ग अपनी प्रभुता स्थापित करने की चेष्टा कर रहा था। राजन्य (क्षत्रियों) ने दूसरे वर्गों के ऊपर श्रेष्ठता का दावा किया।[२६] परन्तु इसके विरोध में ब्राह्मणों का दावा था कि वे राजन्यों के भी ऊपर हैं।[२७] इसके अलावा जन साधारण और अभिजात वर्ग में भी संघर्ष चलता था। क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष का विस्तृत वर्णन रामायण में (ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से), महाभारत में तथा जैन धर्मग्रन्थ हरिवंश और सुभौम चरित में मिलता है। भार्गववंशीय ब्राह्मणों के नेता परशुराम थे और हैहयवंशीय क्षत्रियों के नेता कार्तवीर्य अर्जुन। वीवर और जीमर का मत है कि यह युद्ध वैदिक युग और महाकाव्य युग के मध्यवर्ती काल में हुआ था। वीवर का कहना है कि इस संघर्ष में पुरूरवा और नहुष आदि क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों पर घोर अत्याचार करते थे। क्षत्रियगण ब्राह्मणों की स्त्रियों और गायों का अपहरण कर लेते थे। इसी युग में ब्राह्मणों ने ब्राह्मजय स्तोत्र, ब्राह्मगवि स्तोत्र और क्षत्रद्रोही स्तोत्र की रचना की। पार्जीटर का कहना है कि यह संघर्ष सौ वर्षों तक चला और अन्त में ब्राह्मण लोग पराजित हो गए।[२८] परन्तु जीमर का कहना है कि ब्राह्मणों को कुछ सुविधाएँ अवश्य मिल गई जैसे दान लेने का अधिकार, प्राणदण्ड से मुक्ति

आदि आदि । इस प्रकार घोर वर्ग-संघर्ष के बाद ब्राह्मणों का पुरोहिताई पर एकाधिकार प्राप्त हुआ । सेनार्ट तथा दूसरे विद्वान् इस संघर्ष को वर्ग-संघर्ष नहीं मानते । इनका कहना है कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में जाति का उल्लेख नहीं है, परन्तु तत्कालीन समाज में वर्ग नहीं थे बल्कि जातियाँ ही थीं ।७६

बौद्ध-युग में क्षत्रियों ने पुनः सर्वश्रेष्ठ वर्ण होने का दावा किया । गौतम बुद्ध का भी ऐसा ही दावा था । बौद्ध और जैन साहित्य में क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ स्थापित किया है । उस जमाने में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच घोर शत्रुता थी । दोनों में इस कदर भेद भाव आ गया था कि अरिन्दम नामक राजा ने पुरोहित के पुत्र को हीनजाति अथवा हीनकुलोत्पन्न कहा । कोसल के राजा ब्राह्मणों को इतना नीच समझते थे कि अपने ब्राह्मण कर्मचारियों से बातचीत करते समय वे बीच में एक पर्दा डाल लेते थे ताकि उनका मुँह न देखना पड़े । शाक्य क्षत्रिय जब अपनी सभा में बैठे होते तब सभाभवन में किसी ब्राह्मण को प्रवेश करते देखकर वे हँसते-हँसते लोट पोट हो जाते थे और उसे पीछे ढकेल देते थे । वे उसे बैठने के लिए भी नहीं कहते थे ।८० उनका जातीय अभिमान और औद्धत्य चरम सीमा पर पहुँच गया था ।

संस्कृत साहित्य में अनार्य शब्द का प्रयोग प्रथम बार ईसापूर्व पाँचवीं सदी में हुआ है । इस शब्द ने प्रजाति-संघर्ष का सिद्धान्त मानने वालों की कल्पना में पर लगा दिए हैं । उनका कहना है कि आर्यों ने इस शब्द का प्रयोग भारत के मूल निवासी द्राविड़ों के लिए किया है । यदि ऐसा रहता तो इस शब्द का प्रयोग बहुत पहले हुआ रहता । वैदिक युग में इस शब्द का पता भी नहीं था । इसका प्रयोग यास्क ने अपने निरुक्त और निघण्टु में कीकटों (परवर्ती मागधों, अर्थात् वर्तमान बिहार के पटना और गया जिले के रहने वाले) के लिए किया था । वीबर का कहना है कि यह शब्द विद्रोही बौद्धों का द्योतक है । ब्राह्मण लोग इस शब्द का प्रयोग उन सभी लोगों के लिए किया करते थे जो वैदिक नियम अथवा आर्य धर्म का पालन नहीं करते ।८१ स्मरणीय है कि उन्हीं दिनों बुद्ध अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और मगध वासियों ने उनका धर्म सबसे पहले स्वीकार किया था । इसीलिए ब्राह्मणों ने मगध को अनार्यों की भूमि कहना शुरू किया, परन्तु जैन और बौद्धों ने मगध को श्रेष्ठ आर्यों की भूमि कहा । इससे बिलकुल साफ़ है कि आर्य शब्द किसी प्रजाति का सूचक नहीं, जैसा कि जर्मन विद्वानों ने समझा और प्रयोग किया । इस शब्द का मूलतः धार्मिक और सांस्कृतिक अर्थ था जो आगे चलकर गम्भीर राजनीतिक महत्व का विषय बन गया ।

इसके बाद ही भारतीय इतिहास का वह युग प्रारम्भ होता है जबकि पुरोहित वर्ग द्वारा समर्थित कट्टरपंथी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा समर्थित बहु-जातिक क्रांतिकारी समाज-व्यवस्था का संघर्ष छिड़ गया। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे। वैश्य और शूद्र भी इन धर्मों के संसर्ग से अछूते नहीं रहे। ये दोनों धार्मिक आंदोलन धार्मिक संघर्ष के साथ साथ वर्ग-संघर्ष के भी द्योतक थे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन या मध्ययुग में वर्ग संघर्ष धार्मिक संघर्ष के रूप में ही संचालित होता था। यह ठीक है कि यूनान और रोम जैसे राज्यों में, जहाँ राजनीतिक चेतना यथेष्ट विकसित हो गई थी, वर्ग-संघर्ष राजनीतिक पथ का अनुगमन करता था। किन्तु रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में जबकि दासों तथा निम्न वर्ग के लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था और मध्ययुग में जबकि सुधारवादी सम्प्रदायों ने रोमन कैथोलिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नारा बुलन्द किया था तब क्या वर्ग-संघर्ष ने धार्मिक रूप धारण नहीं किया था? ८२ सुधारवादी आन्दोलनों के मूल में सदा ऐतिहासिक एवं भौतिकवादी शक्तियाँ काम करती रहती हैं। इतिहास की आदर्शवादी और भौतिकवादी व्याख्याओं का संयोग स्वार्थों की पीठिका पर होता है।८३ बौद्ध-युग में जबकि ब्राह्मणों का घोर संघर्ष चल रहा था ब्राह्मणेतर वर्णों ने किस प्रेरणा पर वेदों के विरुद्ध बगावत की? जन साधारण ने क्योंकर बौद्ध धर्म स्वीकार किया? स्पष्ट है कि इस विद्रोह के रूप में भारत में पहली बार सामाजिक क्रांति का सूत्रपात हुआ था। उस क्रांति के मौलिक तत्वों को समझने के लिए उस काल के इतिहास को जानना चाहिए।

मगध में शिशुनाग क्षत्रियों का शासन समाप्त होने पर नन्द वंश का उदय हुआ। नन्दों को लोग क्षत्रिय नहीं मानते थे। जैसा कि पुराणों में वर्णन आया है महापद्मनन्द ने क्षत्रियों को उखाड़ फेंका।८४ उसने ऐसा क्योंकर किया? इस पर पुराण मौन हैं। परन्तु पुराणों से इतना अवश्य ज्ञात है कि नन्दवंश वाले शिशुनाग क्षत्रियों की अवैध सन्तान थे और महापद्मनन्द की माँ शूद्रा थी। सम्भव है कि इसी कारणवश नन्दवंश क्षत्रियों का विरोधी था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी नन्दवंश की ही सन्तान था और उसके उदय के साथ शासन सत्ता शूद्रों के हाथ में चली आई। याद रखने की बात है कि यह परिवर्तन क्षत्रियों और शूद्रों के बीच घोर संघर्ष के बाद ही हुआ होगा। नये शासक वर्ग ने निश्चय ही अपने को नई क्षत्रिय जाति के रूप में पुरस्थापित किया होगा। पुराणों में मगध के एक राजा विश्वस्फणि का उल्लेख आया है जिसके विषय में भविष्य

वाणी की गई कि वह क्षत्रिय जाति को पराजित कर कैवर्तों, पको, पुलिन्दो और ब्राह्मणा को राजा बनायेगा । ८५ यह विश्वस्फाणि कौन था, इसमे हमारी विशेष दिलचस्पी नही । वह चन्द्रगुप्त मौर्य भी हो सकता है या उसी के समान अन्य कोई ।८६ जायसवाल का खयाल है कि वह बनारस का सीथियाई क्षत्रिय वनस्फोरस ही था । ८७ अथवा वह महापद्मनन्द भी हो सकता है किन्तु एक बात निश्चित है कि इस संघर्ष के सिलसिले मे एक नई क्षत्रिय जाति का उदय हुआ । इससे यह भी साबित होता है कि सामाजिक स्तरो के निर्माण और परिवर्तन म राज्य का बहुत बडा हाथ होता है ।

मौर्यो के उदय के साथ भारतीय इतिहास का दूसरा क्रान्तिकारी युग प्रारम्भ हुआ । पुराणो का मत है कि मौर्य वश का सस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्र था । ब्राह्मण कौटिल्य की मदद से वह मगध का शासक बन बैठा और अन्त मे केन्द्रित भारतीय साम्राज्य का प्रथम सम्राट् हुआ जिसने विदेशी राष्ट्रो से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया । वेदो म शूद्र राजा 'जनश्रुति' का उल्लेख तो है ही अब एक दूसरा वृषल शूद्र उत्तर भारत का सम्राट बना । इस शूद्र राजा के शासनकाल म उसके ब्राह्मण मन्त्री कौटिल्य ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' लिखी । उसम लिखा है कि जो शूद्र जन्मना दास नही बल्कि 'आर्यप्राण' है और जो बालिग नही हुआ है उसे शूद्र को बेचने या बन्धक रखने वाले को १२ 'पण' का अर्थदण्ड देना होगा आर्य को कदापि गुलाम नही बनाया जा सकता । यदि किसी आर्य ने अपने को बेच दिया है तो उसकी सन्तान मूल्य वापस करके पुन आर्यत्व प्राप्त कर सकती है यह बात जन्म-जात अथवा प्रतिश्रुत दास के लिए भी लागू हो सकती है । ८८ यहाँ आर्य शब्द का कुछ दूसरा ही अर्थ प्रतीत होता है । वेदो म इस शब्द का आशय धार्मिक और सांस्कृतिक था, परन्तु कौटिल्य ने इसका राजनीतिक अर्थ म प्रयोग किया है । तदनुसार 'आर्य' का अर्थ नागरिक है । उस पूर्ण राजनीतिक अधिकारो और कर्तव्यो से समन्वित राज्य की नागरिकता अथवा सदस्यता प्राप्त थी । कौटिल्य के उपर्युक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि शूद्र भी आर्य थे ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण शासक उसका पौत्र अशोक हुआ । टिल्य ने ब्राह्मण की महिमा गाई थी, और शूद्र को यद्यपि दासता से मुक्त रके 'आर्य' माना था, फिर भी उनके प्रति ब्राह्मणो के मुकाबले मे कठोरता बरती थी । परन्तु अशोक ने सभी प्रकार की कानूनी असमानताएँ समाप्त कर दी । मुकदमा और सजा के मामले म उसने अपनी प्रजा के बीच किसी प्रकार

का अन्तर नहीं रखा और सबको बराबर माना।८९ उसने ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों को खत्म कर दिया और राजकर्मचारियों को बिना किसी वर्ण भेद के नियुक्त किया। यह भी एक कारण था कि आगे चलकर ब्राह्मणों ने ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र के नेतृत्व में मौर्यवंश के विरुद्ध विद्रोह किया। मौर्यों की सत्ता उखड़ गई और पुष्यमित्र गद्दी पर बैठा। इस प्रकार भारतीय इतिहास में प्रथम बार एक बड़े भूभाग पर ब्राह्मणों का शासन कायम हुआ। पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर उसकी राजगद्दी हथिया ली। उसके शासनकाल में मनु का मानव धर्मशास्त्र लिखा गया। उसमें पहली बार दावा किया गया कि ब्राह्मण राजा और सेनानायक भी हो सकता है। शूद्रों के प्रति उसमें बड़ी कठोरता बरती गई है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि शूद्र न्यायाधीश के पद पर नियुक्त नहीं हो सकता। परन्तु इसके पहले ऐसा कोई बन्धन नहीं था। शूद्रों को बहुधा न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था बल्कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका उल्लेख है।

पुष्यमित्र के शासनकाल में अशोक का शासनतन्त्र तोड़ दिया गया और उसके स्थान पर प्रतिक्रियावादी ब्राह्मण नौकरशाही स्थापित की गई।

मनुस्मृति अथवा मानव धर्मशास्त्र में शूद्रों और बौद्धों के प्रति घोर घृणा प्रदर्शित की गई है। बौद्ध प्रवृत्ति वाले विद्रोही शूद्रों (अर्थात् पूर्ववर्ती शासक वर्ग) और कट्टर प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों (नवीन पूर्ववर्ती शासक वर्ग) के पारस्परिक संघर्ष में इस ग्रन्थ का विशेष महत्व है। शुंग वंश के अभ्युदय से लेकर गुप्त वंश की स्थापना तक (ईसा के बाद दूसरी सदी) उत्तर और दक्षिण भारत में अनेक ब्राह्मण राजा हुए। इसी युग में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और पवित्रता का दावा पूर्णतः स्थापित हुआ और पहली बार उन्हें प्रथम और सर्वोच्च वर्ण माना गया। जैसा कि भूपेन्द्रनाथ दत्त ने प्रश्न किया है जो पुरोहित वर्ग अपनी परवरिश के लिए दूसरे वर्गों पर निर्भर करता था वह बिना शासन-सत्ता की सहायता के भला किस प्रकार अपने अधिकारों को स्थापित कर सकता? विश्व इतिहास में कहीं भी पुरोहित वर्ग ने ऐसे अधिकारों का दावा नहीं किया। यूनान रोम के पुरोहित यहूदियों के रबी ईरान के मगी मिस्र के पुरोहित तथा सेल्टो के ड्रुइड ने कभी ऐसे अधिकारों का दावा पेश नहीं किया। हाँ मध्ययुग में रोमन चर्च के पादरियों ने अवश्य कुछ ऐसे ही अधिकार चलाये लेकिन उन दिनों रोमन चर्च की प्रबल भौतिक राजसत्ता थी जिसके आधार पर उनके अधिकार माने गए। ९

दक्षिण भारत में उत्तर की अपेक्षा उग्रतर जातीयता सदा से विद्यमान रही

है। ऐसा क्यो ? प्रजाति सिद्धात वालो का विचार है कि भारत के आदि-निवासियो ने उत्तर मे आर्यो द्वारा प्रताडित होकर दक्षिणापथ मे शरण ली। याद रखने की बात है कि शुग-कण्व काल म उत्तर की तरह दक्षिण भारत में भी ब्राह्मणो का प्रबल अत्याचार जारी था। निश्चय है कि दक्षिण की ब्राह्मणेतर जातियो ने महज हिन्दू कहलाने के लिए ब्राह्मणो का अत्याचार सहन नही किया होगा। वस्तुत दक्षिण भारत मे सातवाहन वश से लेकर विजय नगर साम्राज्य काल तक राजसत्ता ब्राह्मणो के हाथ मे थी।

स्पष्ट है कि वर्ग-सघर्ष के द्वारा ही किसी वर्ग (या उसकी प्रस्तरीभूत सत्ता—जाति) का सामाजिक दर्जा निर्धारित होता था। बगाल के इतिहास से यह बात और भी साफ़ हो जाती है। वहा के बौद्धो की राजसत्ता उखड जाने के बाद वे सब के सब अछूत हो गए। अनाचरणीय वर्ग के जितने भी अवशेष आज मिलते हैं, वे सब किसी काल के विस्मृत बौद्ध हैं। हिन्दुओ का राजत्व समाप्त हो जाने के बाद बगाल के जिन लोगो ने न तो ब्राह्मणवाद को कबूल किया और न इस्लाम को, बल्कि अपनी पुरानी पूजा-पद्धति कायम रखी, वही आज अछूत कहलाते हैं।[९] इतिहास मे इस तरह के अनेक उदाहरण मिलेंगे। आधुनिक युग म भी यह सिद्धात काम कर रहा है। गूजर आज शूद्र कहलाते हैं। परन्तु प्रतिहार, जो कि उनके पुराने सगे सम्बन्धी हैं, राजपूत (आधुनिक क्षत्रिय) कहलाते हैं। सिंध (पाकिस्तान) के जाट इब्न कासिम के समय मे अशौच शूद्र माने गए, परन्तु उत्तर राजपूताना म उनके सगे-सम्बन्धी आज क्षत्रिय होने का दावा कर रहे हैं। सथाल परगना (बिहार) के भुइयाँ अपने को क्षत्रिय मानते हैं, जबकि बगाल के भुइया नीच जाति के शूद्र माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब जिस जाति को यथेष्ट शक्ति मिल जाती है, तब वह अपनी श्रेष्ठता का दावा करने लगती है। वर्ग विभेद की जड म आर्थिक असमानता रहती है और जब कोई वर्ग जाति बन जाता है तब व ही आर्थिक शक्तियाँ उसका सामाजिक दर्जा भी निर्धारित करती हैं।

भारत के चारो वर्ण निश्चय ही चार प्रकार की मनुष्य-जाति के सूचक नही थे। वे प्रजातीय तत्त्वो का प्रतिनिधित्व नही करते। एक क्षण के लिए मान लीजिए कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन प्रथम वर्गो के लोग एक प्रजातीय तत्त्व के प्रतिनिधि थे और उन्होने अपने को द्विज माना। इसी प्रकार उनके द्वारा पराजित भारत के मूल निवासी दास या शूद्र कहलाए। यह बात यदि सच है तब फिर ऊपर के तीन वर्णों मे कौन छोटा है और कौन

बढ़ा—इस सवाल को लेकर क्याकर संघर्ष हुआ ? वैश्यों को द्विज समुदाय में क्योंकर सबसे नीचे जगह मिली ? अथवा क्या अभिजात वर्ग के लोगों ने वाणिज्य व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों के प्रति निरपोषित अवज्ञा के कारण वैश्यों को निम्न श्रेणी में स्थान दिया ? प्राचीन भारत में वैश्यों को आर्य कहा जाता था। और जो वैश्य और शूद्र एक साथ एक ही आर्थिक क्षेत्र में काम करते थे उन्हें शूद्रार्य कहा जाता था। आगे चलकर वैश्य केवल व्यापार वाणिज्य में लग गए और कृषि कर्म तथा पशु पालन का काम त्याग दिया। कुछ दिनों बाद वे लोग शक्तिशाली श्रेष्ठि बन गए। उनके अनेक प्रभावशाली संघ थे। वेदों में उनकी अच्छी गति थी। अन्त में वैश्य कुलोद्भव हर्षवर्द्धन ने उत्तर भारत में अपना प्रबल साम्राज्य भी स्थापित कर लिया। इस साम्राज्य की सीमा आमू दरिया से लेकर समुद्र तक फैली हुई थी। वैश्यों के बाद राजसत्ता शूद्रों के हाथ में आ गई।

पंजाब तथा अन्य स्थानों में ऐसे अनेक समुदाय थे जिन्हें अहिंसा में विश्वास नहीं था। वैसे लोग जनता की नजर में गिर गए। शूद्रों की तरह वे भी हीन श्रेणी में गिने जाने लगे।[६१] इस प्रकार वैश्य और शूद्र एक सामाजिक स्तर पर आ गए। परन्तु वर्द्धन वंश की स्थापना के साथ वैश्यों का उदय प्रारम्भ हुआ। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि वैश्य प्रथम तीन वर्णों में एक थे, उनकी वास्तविक स्थिति शूद्रों जैसी थी। परन्तु आर्थिक और राजनीतिक शक्ति बढ़ने पर उनकी सामाजिक स्थिति भी ऊंची हो गई।

अब देखना चाहिए कि शूद्र कौन थे। शूद्र क्या मानवशास्त्र का कोई शब्द है ? अथवा इसका कोई आर्थिक या सांस्कृतिक अर्थ है ? ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद से लेकर रघुनन्दन तक जैसे-जैसे हम आधुनिक युग की ओर बढ़ने लगते हैं हम देखते हैं कि शूद्रों के प्रति ब्राह्मणों की असहिष्णुता बढ़ती जाती है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र उनके प्रति यदि कठोर नहीं है तो कुछ उदार भी नहीं है। और मनु को तो उनके प्रति घोर आक्रोश था। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब से लेकर कुल्लूक भट्ट और रघुनन्दन तक जितने भी धर्मशास्त्र प्रणीत हुए उन सबमें शूद्रों के प्रति ब्राह्मणों की कठोरता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।[६३] बौधायन ने ब्राह्मण और शूद्र के बीच विवाह की अनुमति दी थी।[६४] आपस्तम्ब ने लिखा कि शूद्र अपने (उच्च जाति के) स्वामी के लिए आर्य की निगरानी में भोजन बनाकर दे सकता है। उसने यह भी कहा कि स्त्रियों और शूद्रों में जितना कुछ परम्परागत ज्ञान है वही उनके लिए विद्या की चरम सीमा है।[६५] श्री बी० पी० काने का

ख्याल है कि बौधायन और आपस्तम्ब ईसा पूर्व ६०० से ३०० वर्ष के बीच अर्थात् वेदोत्तर काल में हुए थे।[९६]

वशिष्ट ने अन्तरजातीय विवाह के विरुद्ध मत दिया। उसने शूद्रों को वेद पढ़ने से मना किया, बल्कि यह भी कहा कि शूद्रों की उपस्थिति में किसी को भी वेदपाठ नहीं करना चाहिए। काने का विचार है कि वशिष्ट का जन्म ईसा के बाद पहली शताब्दी में हुआ था।[९७] महाराष्ट्र के नागभट्ट और बंगाल के रघुनन्दन मुसलमानों के आक्रमण के बाद हुए। उन लोगों ने बताया कि भारत में दरअसल दो ही जातियां थीं—ब्राह्मण और शूद्र। उनके अनुसार सभी ब्राह्मणेतर जातियां महज शूद्र हो गईं। यदि शूद्रगण वास्तव में किसी दूसरी प्रजाति के थे—यदि वे सचमुच में पराजित आदिवासी थे—तो निश्चय ही प्रारम्भ में अर्थात् आर्यों की विजय के तत्काल बाद उनके और आर्यों के बीच उग्र शत्रुता रही होगी। आगे चलकर सम्मिश्रण के जरिए शत्रुता की आग धीरे धीरे शान्त हुई होगी। किन्तु बात यहां कुछ उलटी ही दीखती है। ऐसा क्या? प्रश्न है कि शूद्र थे कौन? क्या वे भारत के मूल निवासी थे? क्या वे आर्यों के समाज में निम्नतम श्रेणी के लोग थे? अथवा क्या वे प्रारम्भिक वैदिक युग के दस्युओं और दासों की सन्तान थे? इन सब प्रश्नों की अब तक सफाई नहीं हो सकी है। 'वैदिक इंडेक्स' में लिखा है कि ऋग्वेद में दस्युओं की भांति दासों का भी दानव रूप में वर्णन आया है। परन्तु कितने ही स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है जिससे जान पड़ता है कि वे मानव थे और आर्यों के घोर शत्रु थे।[९८] अन्यत्र ऐसे भी प्रसंग हैं जहां शूद्र को सोमयज्ञ में स्थान दिया गया है।[९९] प्राचीन ग्रन्थों में सम्पन्न शूद्रों का भी वर्णन आया है।[१००] उनका राजमंत्री के रूप में भी उल्लेख है।[१०१] बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें 'गृहपति' कहा गया है। विधि-साहित्य में शूद्र राजाओं का भी जिक्र मिलता है। 'कथक संहिता' और 'तैत्तिरीय संहिता' में शूद्रों और आर्यों के प्रति अपराधों की चर्चा आई है।[१०२] 'तैत्तिरीय संहिता' में शूद्रों की उन्नति के लिए प्रार्थना की गई है।[१०३] अथर्ववेद और 'वाजसनेयी संहिता' से ज्ञात होता है कि लोग आर्य और शूद्र, दोनों के प्रिय पात्र होना चाहते थे।[१०४] 'सूत्रों' ने स्वीकार किया है कि शूद्रों को वाणिज्य-व्यापार करने का अधिकार है।[१०५] यजुर्वेद संहिता में शूद्रों और आर्यों के बीच अवैध यौनाचार का उल्लेख है।[१०६]

उपर्युक्त पंक्तियों से शूद्रों की सामाजिक स्थिति की जो झलक मिलती है, वह ब्राह्मणों की सैद्धान्तिक विवेचना से सर्वथा भिन्न है। शूद्र आर्यों से पृथक्

किसी अन्य उपजाति के लोग थे, ऐसा मानना सम्भव नहीं दीखता। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में यही बताया गया है कि सभी जातियाँ ब्रह्मा से ही प्रादुर्भूत हुई। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से शूद्रों को आर्य माना है।

शूद्रों के सबसे बड़े शत्रु, मनु ने भी नहीं कहा है कि वे आर्य नहीं थे। चारों वर्णों के मूल पुरुष 'मनु' ही थे। 'अत्रि संहिता' में शूद्र, निषाद, चाण्डाल और म्लेच्छ सबको ब्राह्मण वंश का माना है।[१०७]

शूद्रों की सामाजिक स्थिति निर्धारित करने के लिए हमेशा 'धर्मशास्त्रों' का हवाला दिया जाता है। वे निश्चय रूप से शूद्रों के प्रति कठोर हैं। किन्तु 'धर्मशास्त्रों' के प्रणेता ब्राह्मणों ने क्या क्षत्रियों और वैश्यों के लिए भी कोई सद्भावना दिखलाई है? इस दृष्टिकोण से 'धर्मशास्त्रों' का अध्ययन अब तक नहीं हुआ है। अतः आइये हम लोग उनको दुहराएं।

"किसी क्षत्रिय या वैश्य ने यदि किसी प्रकार से किसी ब्राह्मणी का संसर्ग प्राप्त किया है, तो उसे एक मास तक यव और गोमूत्र पर रहकर प्रायश्चित करना चाहिए।"[१०८]

यदि किसी नीच जाति की स्त्री के प्रति कोई आकर्षित होता है तो यह कोई अपराध नहीं। परन्तु ऊंची जाति की स्त्री के प्रति इस प्रकार के भाव प्रकट करना अपराध माना जायगा और उसकी सजा प्राणदण्ड होगा।'[१०९] यह दण्ड भी वर्णों की श्रेष्ठता का ध्यान रखकर दिया जाएगा।[११०]

ब्राह्मणों का अन्न लेने वाला दरिद्र होता है। क्षत्रिय का अन्न लेने वाला पशु समझा जाता है और वैश्यों का अन्न लेनेवाला शूद्र हो जाता है। और, शूद्र का अन्न ग्रहण करने वाला तो सीधे नरक जाता है।[१११] ब्राह्मण का दिया हुआ भात खाकर जो मरता है वह अमरत्व प्राप्त करता है। क्षत्रिय का भात खाकर मरनेवाला अगले जन्म में दरिद्र होता है। वैश्य का दिया भात खाकर मरनेवाले व्यक्ति को अगले जन्म में शूद्र का भात खाना पड़ता है। और शूद्र का भात खाकर मरनेवाला अगले जन्म में नरक की यातना भोगता है।[११२]

गोमांस या चाण्डाल द्वारा रांधा हुआ भात खाने वाले ब्राह्मण को चाहिए कि वह एक गाय दान करे, क्षत्रिय दो गाय दान करे, वैश्य तीन गायें और शूद्र चार गायें।[११३]

सभी महापातकी (ब्राह्मणों को छोड़कर) प्राणदण्ड के भागी हैं। ब्राह्मणों को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड दिया ही नहीं जा सकता।[११४] ब्राह्मण की निन्दा करने वाले क्षत्रिय को एक सौ पण का जुर्माना होगा और वैश्य को १५० से लेकर २०० पण का। परन्तु शूद्र को शारीरिक दण्ड सहना

पड़ेगा।"[११५] क्षत्रिय का अपमान करने पर ब्राह्मण को ५० पण का जुर्माना होगा, वैश्य का अपमान करने पर २५ पण का और शूद्र का अपमान करने पर १२ पण का।[११६]

इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य किसी जाति की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। परन्तु ये धर्मशास्त्र महज धर्मशास्त्र ही तो हैं जिनमें विधि और दण्ड की असमानता के अलावा और है भी क्या? समाज ज्यों ज्यों जन जातीय व्यवस्था को छोड़कर सामन्तवादी व्यवस्था अपनाता गया इस प्रकार की असमानताएँ और दण्ड की कठोरता बढ़ती गई। साथ ही यह भी सच है कि धर्मसत्ता और राजसत्ता यदि अधिक दिनों तक पुरोहित जाति के हाथ में रही नहीं होती तो इस प्रकार की बात नहीं हो पाती। हमने पूर्व पृष्ठों में देखा है कि चारों जातियों में से प्रत्येक ने किसी-न-किसी समय राजसत्ता अवश्य प्राप्त की। परन्तु अन्त में ब्राह्मणों की बारी आई, और हिन्दू शासनकाल में उन्होंने ही सर्वाधिक समय तक राजलक्ष्मी का उपभोग किया। उनके ही राजत्वकाल में धर्मग्रन्थों में सब फेर-बदल किये गए। बाद में मुसलमानों का आक्रमण हुआ और तब ब्राह्मणों के विष का कोई इलाज नहीं हो सका।

ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हिन्दू जाति-व्यवस्था प्रजाति-संघर्ष के कारण उत्पन्न नहीं हुई, और न जातियों का सामाजिक मान मात्र रक्त के अनुपात पर निर्धारित किया गया। अमेरिका तथा अन्य देशों की मिश्रित जातियों से हिन्दू जातियों की तुलना करना व्यर्थ है। वेदों में वर्ण (रंग) का उल्लेख आया है।[११७] हम नहीं जानते कि भारत में प्रथम बार प्रवेश करने वाले आर्यों की कौन सी प्रजाति थी और न हम यही जानते हैं कि वर्तमान काल की जातियों में से किसमें किस प्रजाति का कितना तत्त्व घुला मिला है। इसलिए हम लोग यह सकते हैं कि वैदिक काल तथा वेदोत्तर काल का वर्णभेद केवल सामाजिक अन्तर का सूचक था। हमने देखा है कि हमेशा धर्मसत्ता और राजसत्ता के आधार पर ही सामाजिक मान मर्यादा निर्धारित की जाती थी। पूर्वपृष्ठों में हमने राजनीतिक आन्दोलनों की एक झलक देखी है। अब हम यह देखना चाहिए कि सामाजिक भेदभाव का कौन-सा आर्थिक आधार है।

साधारणतः हिन्दू समाज के चार भाग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु वास्तविक जीवन में अनेक जातियाँ थीं। मनुस्मृति में मनु ने भी

उसने लिखा है कि "उन श्रेणियों ने आर्थिक कारणवश किंवा वर्ग स्वार्थों की रक्षा के लिए व्यावसायिक संघ बने हुए थे परन्तु इन संघों की परम्परा भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों से चली आ रही थी। जातकों में जिस युग का वर्णन है उसके सम्बन्ध में हम किंचित् विश्वास के साथ कह सकते हैं कि उन दिनों व्यापारी वर्गों के व्यवसायगत संघ बने हुए थे और जैसे-जैसे व्यापारिक सम्बन्ध विकसित होता गया वैसे-वैसे संघों का महत्त्व और उनकी आतरिक एकता भी बढ़ती गई। परम्परागत संघटन और पितागत सहायता के कारण ये संघ जातियों से मिलते-जुलते थे। इसलिए आगे चलकर उनमें भी शादी-ब्याह और खान-पान-सम्बन्धी ऐसे रीति रिवाज चल पड़े, जो वास्तव में जातियों के विशेषकर ब्राह्मण जाति के। इस तरह, धीरे धीरे इन संघों ने आधुनिक जातियों का रूप ग्रहण कर लिया। उत्पादक वर्ग की जेट्ठक नामक संस्था हुआ करती थी। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि व्यापारी वर्ग की तरह उत्पादक वर्ग का भी संघ होता था। स्थानीय तौर पर काम का बँटवारा, पितागति के आधार पर अपना व्यवसाय ग्रहण करना तथा हर व्यवसाय में एक बुजुर्ग का होना—इन तीन बातों से स्पष्ट ज्ञात है कि प्रत्येक हस्त शिल्प के लिए एक संघटन होता था जिसकी हम अपने (यूरोप के) मध्ययुगीन निगमों से अनेक अंशों में तुलना कर सकते हैं। इस तरह से शताब्दियाँ बीतती गई। जाति सिद्धान्त उत्तरोत्तर—बौद्धमतावलम्बी क्षेत्रों में भी—जड़ पकड़ता गया और उच्च जातियों की ऐकान्तिकता और मर्यादा भी क्रमशः बढ़ती रही। उसी अनुपात में उत्पादकों के निगम भी जाति व्यवस्था के दायरे में आते गए। अभिजात कुलों और ब्राह्मण जातियों की देखादेखी इन निगमों में भी तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगने लगीं। निगम के जो सदस्य अपने हीन मूलवश के कारण मानव-समाज की निचली सीढ़ी पर अवस्थित माने जाते थे अर्थात् जिनकी जाति छोटी समझी जाती थी, उनके साथ एक तख्त पर बैठना या एक आसन पर भोजन ग्रहण करना वर्जित हो गया।[१२८] ऐसे ही व्यावसायिक संघटन में मनु की 'मिश्रित जातियों' का रहस्य खुलता है। जातियाँ चारों वर्णों से अथवा उनके सम्मिश्रण से उत्पन्न नहीं हुई। वे मूलतः विशिष्ट सामाजिक समूहों की द्योतक थीं अथवा कहना चाहिए कि जो विभिन्न सामाजिक समूह थे आगे चलकर उनकी अलग अलग जाति बन गई। मौर्यकाल में (ईसापूर्व ३२१ से १८५ वर्ष तक) व्यावसायिक संघों का खूब विकास हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में क्षत्रियों के व्यावसायिक संघ का ज़िक्र मिलता है।[१२६] उन दिनों उनका व्यवसाय युद्ध और

व्यापार, दोना था। परन्तु यदि यह न माना जाए कि शिल्प-संघों में, जोकि उत्पादकों और मजदूरों का संघटन हुआ करते थे, शूद्र को भी सदस्यता प्राप्त थी, तो मानना पड़ेगा कि शूद्रों के संघटन का कहीं कोई वर्णन उपलब्ध नहीं।[130] हर्षवर्द्धन के जमाने में जब वैश्यों ने अपने को 'शूद्रार्यश्रा' से पृथक कर लिया तो शूद्रों ने अपना अलग व्यावसायिक संघ बनाया। उनमें बढ़ई, नाई, बुनकर, मूर्तिकार और किसान आदि पेशेवर लोग थे। शूद्रों के नीचे भी अनेक लोग थे जो टोकरी बनाते थे, चमड़े का काम करते थे या बर्तन गढ़ते थे।[131]

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि हर पेशेवर जमात की अलग जाति थी। जिस जमात का पेशा जितना ही हीन होता था, उसकी सामाजिक हैसियत भी उतनी ही नीची मानी जाती थी।

जाति-व्यवस्था का इतिहास

वैदिकयुगीन भारत में तथा आवेस्ताकालीन ईरान में समाज वर्गों में बँटा हुआ था। प्रारम्भ में तीन ही वर्ग थे। चौथा वर्ग आगे चलकर बना। जैसा कि सेनार्ट ने लिखा है कि ईरान के चार पिस्त्र और हिन्दू समाज के चार वर्णों में एक महत्त्वपूर्ण समानता है।[५] सेनार्ट तथा दूसरे विद्वानों ने स्वीकार किया है कि वर्ण वस्तुतः वर्ग का द्योतक था जाति का नहीं। परन्तु सेनार्ट का कहना है कि परवर्ती वैदिक युग में वर्ण ही रूढ़ि होकर जाति बन गया। अतः हम देखना चाहिए कि विभिन्न युगों में हिन्दू जाति-व्यवस्था का किस प्रकार विकास हुआ है। इस विषय के सम्यक् अध्ययन के लिए हम भारतीय इतिहास को वैदिक युग से लेकर अंग्रेजी शासनकाल तक दस युगों में बाँट सकते हैं

(१) वैदिक युग
(२) उत्तर वैदिक युग
(३) मौर्य युग
(४) शुंग-कण्व युग
(५) आन्ध्र-कुषाण युग
(६) भारशिव-वाकाटक युग
(७) गुप्त युग
(८) वर्धन युग तथा परवर्ती युग
(९) इस्लाम का आक्रमण तथा परवर्ती युग
(१०) ब्रिटिश शासनकाल।

वैदिक युग (ई० पू० ३०००—ई० पू० ६००)

वैदिकयुगीन समाज अस्थिर और यायावर था। वैसे समाज में पेशागति पर आधारित विशिष्ट सामाजिक समूहों का होना असम्भव था। जो भी समूह थे वे कार्यकारी थे। इसी प्रकार वैदिक देवताओं के भी वर्ग थे, यथा, अग्नि

और बृहस्पति ब्राह्मण[२] इन्द्र, वरुण और सोम क्षत्रिय, वसु रुद्र, आदित्य, वैश्वदेव और मरुत आदि वैश्य, और पूषा आदि शूद्र थे।[३] महाभारत में भी लिखा है कि "इनमें आदित्य ब्राह्मण हैं, मरुद्गण वैश्य हैं, अश्विनीकुमार शूद्र हैं और अंगिरा से उत्पन्न देवगण ब्राह्मण हैं। इस प्रकार देवताओं के भी चार वर्ण हैं।"[४]

देवताओं के ये चारों वर्ण उनके कार्यों के आधार पर बँटे हुए थे। ऐतरेय ब्राह्मण की निम्नलिखित पंक्तियों से यह बात साफ हो जाएगी—'ब्रह्म-वादियों ने कहा है कि इस यज्ञ में देव वैश्यों की पूजा होगी, काल्पनिक देव-वैश्यों की उपासना करके मानव वैश्य धनवान बनते हैं।"[५]

पहले बताया जा चुका है कि वैदिक काल में जनसाधारण को 'विस' कहते थे। उन दिनों खूब मार काट हुई थी। इसलिए लोग विभिन्न वर्गों और वर्गों में बँट गए थे और अपने को राजन्य कहते थे।[६] ये राजन्य सामूहिक रूप से क्षत्रिय कहे जाने लगे। हम ऐसा भी पाते हैं कि क्षत्रिय राजा स्वयं यज्ञ किया करते थे। पुरोहितों की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी। वंशावलि से मालूम होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय एक ही परिवार से उत्पन्न हुए थे। राजा रितिमेन का एक पुत्र देवापि ब्राह्मण था और दूसरा पुत्र शान्तनु क्षत्रिय[६] और उन दोनों ने जनता के शोषण के लिए क्रमश: ब्राह्मणों और क्षत्रियों को संघटित किया—'पुरोहितों को सुदृढ़ करो क्षत्रियों को सुदृढ़ करो' यह उनका नारा था।[७]

उन दिनों प्रत्येक जन जाति में कुछ भाट परिवार रहते थे, जिनका काम राजाओं और जनता के वीर कर्मों का प्रशस्ति-गान करना था। म्यार ने लिखा है कि ऐसा लगता है कि ब्राह्मण शब्द से पहले ऋषि और कवि का बोध होता था। आगे चलकर उसका अर्थ हुआ यज्ञ कराने वाला पुरोहित। अन्त में पुरोहित का भी एक निश्चित अर्थ हो गया।[८]

कालान्तर में गायक भाट राजाओं के लिए नितान्त आवश्यक हो गए। पुरोहित के बिना सम्पन्न हुए यज्ञ में अर्पित हविष्य को देवगण ग्रहण नहीं करते, इसलिए जो कोई भी राजा यज्ञ करता, उसे ब्राह्मण पुरोहित रखना पड़ता था।[९] अनुमान है कि हिन्दू समाज में पुरोहितों का दल इसी प्रकार से उठ खड़ा हुआ और कालान्तर में वे इतने शक्ति सम्पन्न हो गए कि 'ब्राह्मण देवता' भी कहलाने लगे।

इस प्रकार 'विस' से ब्राह्मण और क्षत्रिय, दो वर्ग निकले। शेष बचे जन-साधारण जो वैश्य कहलाए। उनके लिए दूसरा कोई चारा भी नहीं था।

वे पूर्ववत् कृषि कार्य में लगे रहे। उनका वर्ग सर्वथा सुविधाहीन था, जिस पर क्षत्रियों और ब्राह्मणों का दुहरा प्रभुत्व चलता था। जब ऊपर के दोनों वर्गों ने अपने अपने व्यवसाय को वंशानुगत बना लिया तब वैश्य खेतिहरों और पशुपालकों ने अपना संघटन पहले वंशानुगत रूप में नहीं बल्कि गिल्ड (सामूहिक सहकारिता) के आधार पर बनाया। आगे चलकर, अपने शान्तिमय सैनिक व्यवसाय के कारण वैश्यगण समाज के 'बल' माने जाने लगे। इस लिए अथर्ववेद में निम्नोक्त प्रकार से वर्गीकरण किया गया है—ब्राह्मण क्षत्रिय और बल।[१०] शूद्र का वैश्य के साथ शूद्रार्य नाम से उल्लेख हुआ है। इस समाजतन्त्र के बाहर रहने वाले वर्गविहीन लोगों का नाम 'व्रात्य' था। जीमर का मत है कि व्रात्यगण भी आर्य ही थे, परन्तु उन्होंने ब्राह्मणतन्त्र को स्वीकार नहीं किया था। बाद में शायद उनके लिए ही मनु ने मिश्रित जाति का प्रयोग किया है।

अब विचारणीय है कि इन वर्णों की समाज में क्या दशा थी? प्राचीन समाज में व्यक्ति की स्थिति अर्थदण्ड के परिमाण पर तय होती थी। वर्गों की सामाजिक स्थिति का माप भी यही था। ऋग्वेद में उल्लेख है कि एक आदमी की १०० गाएँ थीं। यजुर्वेद में भी यही संख्या उल्लिखित है। किन्तु वर्ण भेद का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। Wer geld से आदमी के सामाजिक वर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं था। इसका अर्थ है कि उन दिनों समाज में वर्ग का रूप दृढ़ नहीं था। तब क्या किसी व्यक्ति के लिए वर्ग-विभाजन सम्भव था? अर्थात् क्या कोई आदमी एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय ग्रहण कर सकता था? उस समय तक व्यवसाय वंशानुगत नहीं हुआ था। प्रमाण है कि एक ऋषि स्वयं कवि थे उनके पिता वैद्य थे उनकी माँ अनाज पीसने वाली थी।[११] क्षत्रिय राजा विश्वराट की कथा तो प्रसिद्ध ही है कि वे किस प्रकार क्षत्रिय से ब्राह्मण ऋषि विश्वामित्र बन गए। उसी प्रकार याज्ञवल्क्य के उपदेश से राजा जनक भी ब्राह्मण बन गए थे।[१२] इस तरह अनेक ब्राह्मणों के क्षत्रिय बन जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। वैसे ब्राह्मण ब्रह्म-क्षत्रिय कहलाते थे। इन ब्रह्म-क्षत्रियों के विषय में मत्स्यपुराण में लिखा है— इन वालों ने, जिनका कि भृगु वंश (एक ब्राह्मण वंश) में उत्पन्न होना है राज्य-गोत्रों की स्थापना की।[१३]

पुनश्च अंगिरा के वंशज कण्व थे। और वे क्षत्रिय वंश के पौरव उत्पन्न हुए थे।[१४] उरुक्षया, कपिसा गार्ग्या, प्रियम्वदा और मौद में भी यही बात है।[१५] पुराणों में कथा आई है कि वैशाल

एक क्षत्रिय राजा भालानन्द वैश्य हो गया।[१६] यह भी मालूम है कि 'ऋग्वेद' में तीन वैश्य मन्त्रकार थे—भालानन्द, वत्स या वासव और संकिल।[१७] पुराणों में लिखा है कि ये वैश्य ब्राह्मण बन गए।[१८] इस तरह वैदिक वाङ्‌मय से व्यवसाय-परिवर्तन के रूप में वर्ण परिवर्तन के अनेक प्रमाण एकत्र किए जा सकते हैं। शतपथब्राह्मण में श्यापरस याकयान ने अपनी सन्तान के विषय में ऐसा कुछ कहा है जिससे प्रतीत होता है कि वे लोग अभिजात सामन्त बन सकते थे, पुरोहित बन सकते थे अथवा साधारणजन भी रह सकते थे।[१९] 'ऐतरेय ब्राह्मण' में विश्वान्तर से कहा गया है कि उसने यदि गलत अर्घ्य दिया तो उसकी सन्तानें अन्य तीन जातियों की हो जाएँगी।[२०] 'ऋग्वेद' के मद्रक ऋषि के कथन से मालूम पड़ता है कि मानो वे राजा हो जाएँगे।[२१]

अनेक उदाहरणों में से इन कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी व्यक्ति अपने पेशे और वर्ण को बदल सकता था। इस काल के अंतिम चरण में, ब्राह्मण ग्रन्थों से हमें ब्राह्मण जाति की वर्ण चेतना का आभास मिलता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में ब्राह्मण को क्षत्रिय तथा अन्य वर्गों से श्रेष्ठ कहा गया है।[२२] 'तत्तिरीय ब्राह्मण' में ब्राह्मण वर्ग को ईश्वर और शूद्रों को असुर कहा गया है।[२३] 'कौषीतकी ब्राह्मण' में ब्राह्मण को देव या देवाधिदेव कहा गया है।[२४] 'शतपथ ब्राह्मण' में ब्राह्मणों ने अर्चा दान, अजेयता और अवध्यता आदि विशेष सुविधाओं की माँग की है।[२५]

इस स्थल पर ब्राह्मणों और क्षत्रियों के भीषण वर्ग-संघर्ष का भी उल्लेख है। इसका प्रधान कारण शायद ब्राह्मणों की ये असम्भव माँगें ही हो सकती हैं। रामायण में ब्राह्मण परशुराम और क्षत्रियों के बीच युद्ध की कथा आई है। अन्त में ब्राह्मण हार गए, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्हें अनेक सहूलियतें भी प्राप्त हुई। शाम शास्त्री लिखते हैं कि राम से पराजित होकर परशुराम कुछ ब्राह्मणों के साथ दक्षिण की ओर चले गए। दक्षिण भारत के नम्बूदिरी ब्राह्मण उन्हीं ब्राह्मणों के वंशज माने जाते हैं। खैर, जो हो अन्तिम दिनों में पुरोहिताई वंशानुगत हो गई थी। तब ब्राह्मणगण रक्त की शुद्धता पर विशेष रूप से ध्यान देने लगे। कवष ऐलुष को जुआरी और दासीपुत्र कहकर ताना मारा गया है, हालाँकि ब्राह्मण भी उसकी जादूगरी के कायल थे।[२६] कवष पर शूद्रा से उत्पन्न होने का आरोप लगाया गया और समुचित शुद्धीकरण के बाद ही उसे स्वीकार किया गया।[२७] हमें जाबाला के पुत्र सत्यकाम की कथा भी मालूम है। सत्यकाम दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था और उसे यह भी मालूम नहीं था कि कौन उसका पिता है। यह बात उसने

साफ-साफ बता दी, तभी हरिद्रुमत गौतम ने उसे अपना शिष्य बनाया। शिष्य बनाते समय हरिद्रुमत गौतम ने कहा कि एक ब्राह्मण-पुत्र ही अपने सम्बन्ध मे इतनी कठिन बात इस स्पष्टता से कह सकता है।[२८]

इस काल म जाति-व्यवस्था नही थी। उन दिनो समाज मे वे शर्तें भी नही थी जिनके कारण जाति-व्यवस्था जसी सस्था बन पाती है। विभिन्न वर्गों म बिना किसी बाधा के शादी होती थी। क्षत्रिय राजा ययाति ने अपनी कन्या ब्राह्मण सवादक को दी था।[२६] ब्राह्मण बृहस्पति न अपनी कन्या रोमसा का विवाह क्षत्रिय राजा सवनय भयक्य स कर दिया था।[३०] द्विज और शूद्र के बीच भी विवाह-सम्बन्ध हुआ करते थे।[३१] और उसी प्रकार शूद्रगण द्विज जाति की स्त्रियो से।[३२] वेदो म अन्तरजातीय भोज की भी कहा वजना नहा की गई है। शाम शास्त्री लिखते हैं—प्राग्बौद्ध युग म हिन्दुओ म खान पान और शादी-ब्याह के सम्बन्ध म ऐसे कोई नियम नहा थे जिनसे अन्तरजातीय भोजन और विवाह का निषेध होता।[३३]

(२) उत्तर वदिक युग

उत्तर वदिक काल का सामाजिक इतिहास ब्राह्मण और क्षत्रियो के वग समय का इतिहास है। उन्ही दिनो राजा वेन ने पुरोहितो को यज्ञादि कम करने से रोक दिया था राजा पुरुरवा न ब्राह्मणो के आभूषण छीन लिए थे और नहुष ने एक हजार ब्राह्मणो स अपनी शिविका खिचवाई थी।[३४] ये कथाए वेदो तथा शतपथ ब्राह्मण और ब्राह्मणवी आदि ग्रन्थो में मिलती हैं। सनाट स्वीकार करते हैं कि कम से कम कुछ स्थानो म किसी समय म दोनो वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध बडा ही कटुतापूर्ण था।[३५] ऐसी दशा म वर्णिकता का प्रत्याख्यान स्वाभाविक था। कपिल न सास्य दशन ने तथा आजीविका विभिन्न तीथकरो और अहिंसा के प्रचारको न वदिक धम का विरोध किया। य सब वदिक विधियो और पुरोहित वग की कल्पित श्रेष्ठता क विरुद्ध धार्मिक और बौद्धिक विद्रोह के लक्षण थ। सास्य दशन' ने मनुष्य का विवरण और विभाजन तीन गुणो (चारित्रिक लक्षणो) सत् रजस और तमस (त्रिगुण) के आधार पर किया। बौद्ध और जन धम के उदय के बाद उत्तर वदिक युग समाप्त हो गया।

इसी युग (६०० ई० पू० से ५०० ई० पू०) म अनार्य शब्द का प्रथम प्रयोग यास्क नामक एक व्यक्ति ने ऋग्वेद के एक सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए

किया। यास्क के अनुसार 'कीकट' अनार्यों का देश था।[36] इ
ज्ञात हुआ कि कीकट नाम मगध का था। वेबर का मत है कि 'अ। ~
का प्रयोग यास्क ने ऐसे आर्यों के लिए किया है जो 'अदीक्षित' और ब्राह्मण-विरोधी थे। व यह भी सोचते हैं कि 'अनाय' शब्द बौद्धो और उनके पूर्ववर्तियों के लिया गया है।[37] तत्कालीन संस्कृत विद्वान् सायण ने 'कीकट' का अर्थ 'नास्तिक' बतलाया है और 'मागध' का अर्थ सूदखोर। मगध म ही बुद्ध ने अपना दर्शन प्रचारित किया। बौद्ध साहित्य मे मगध को आर्यों का देश माना गया है। लेकिन ब्राह्मण साहित्य म इसे अनार्यों का देश कहा है। डॉ० भूपेन्द्र-नाथ दत्त का मत है कि बुद्ध और यास्क समकालीन थे और दोनो ही दो परस्पर विरोधी दल मे थे, इसी कारण व्याख्या मे यह अन्तर है।[38] अगर 'अनाय' शब्द का अर्थ 'अदीक्षित' है, तब स्पष्ट है कि 'अनाय' शब्द बौद्धो का द्योतक था, क्योकि बौद्ध दीक्षा मे विश्वास नही रखते थे और अदीक्षित ही रहा करते थ।

इस प्रकार हम अब तक देख चुके हैं कि किस प्रकार लोग अपनी रुचि के अनुसार अपना पेशा चुना करते थे। रामायण म एक ब्राह्मण की चर्चा आई है जो हल-कुदाल चलाकर अपनी आजीविका उपाजन करता था। लेकिन महाभारत काल म ब्राह्मण ऐसा 'नीच' कम नही कर सकता था।[39] महाभारत स स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाज मे वग विभेद उत्तरोत्तर बढ रहा था। उसमे लिखा भी है—'ब्राह्मण को भीख मागकर जीवन-यापन करना चाहिये, क्षत्रिय अपनी प्रजा की रक्षा करे वैश्य को धनोपाजन करना चाहिए और शूद्र को चाहिए कि वह उपयुक्त तीनो वर्गों की सेवा करे।" [40] और भी लिखा है "उपयुक्त तीनो वर्गों म से किसी का का कोई आदमी यदि अपने वर्गोचित कतव्य से विचलित होता है तो वह शूद्र हो जाएगा।'[41] यह सब परिवतन रामायण काल से महाभारत काल तक आते-आते हो गया। इन महाकाव्यो के बाद धमशास्त्रो और स्मृतियो का युग आता है। किसी भी धमशास्त्र का तब तक ठीक स अध्ययन नहीं हो सकता जब तक हम उस युग का जिसम वह धमशास्त्र लिखा गया, अच्छी तरह अध्ययन नही कर लेते और उनके लेखक जिस वातावरण म रहत थे उसकी जानकारी नहीं प्राप्त कर लते। सभी धर्मशास्त्रो म गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब क धमशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन मान गए हैं। काणे का मत है कि ये सब धमशास्त्र ६०० ई० पू० से ३०० ई० पू० क बीच लिखे गए।[42] गौतम और बौधायन ने मिश्रित जातियो की एक लम्बी सूची दी है। गौतम का कहना है कि क्षत्रिय पुरुष और शूद्रा स्त्री

से उत्पन्न सन्तान यवन कहलाएगी। आपस्तम्ब इस विषय पर मौन हैं। परन्तु उन्होंने पहली बार भोजन के सम्बन्ध में अस्पृश्यता का उल्लेख किया है। गौतम ने आपस्तम्ब के इस मत का विरोध किया है। यास्क और दुर्गा जो इन दोनों के पहले हुए थे इस विषय पर चुप हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन दिनों कुछ भी निश्चित नहीं था। परन्तु ब्राह्मणों में सबसे अलग अलग रहने की प्रबल प्रवृत्ति थी।

जैसा कि आपस्तम्ब ने लिखा है— यदि भोजन करते समय उसे (ब्राह्मण को) कोई शूद्र छू लेता है तो उसे भोजन छोड़ देना चाहिए। शूद्र द्वारा लाई गई कोई भी वस्तु जिसे वह छुए या न छुए नहीं खानी चाहिए। शूद्र द्वारा दिया हुआ पानी स्नातक (दीक्षित) नहीं पिये।[४३] बौधायन ने द्विज और शूद्र के बीच विवाह की अनुमति दी है लेकिन गौतम ने नहीं। यथा गणना के विलोमक्रम से छोटी जाति के पुरुष द्वारा ऊँची जाति की स्त्री से उत्पन्न पुत्र कोई भी धार्मिक संस्कार (जैसे श्राद्ध आदि) नहीं कर सकता।[४४] जिस पुरुष की स्त्री शूद्र जाति की है, उसे श्राद्ध के अवसर पर भोजन नहीं कराना चाहिए।[४५] पुनश्च गौतम-संहिता में ही हम विशेष रूप से शूद्रों के विरुद्ध कठोर नियमों का दर्शन होता है। जैसे, राजा को चाहिए कि वह शूद्र के उस अंग को कटवा दे जिससे उसने (शूद्र ने) किसी ब्राह्मण को मारा है। उस शूद्र को जिसने किसी ब्राह्मण का अहित किया है या ब्राह्मण की कोई सामग्री चुराकर छिपा ली है, मौत की सजा देनी चाहिए।[४६] यहीं हम यह भी पहली बार पाते हैं कि अपराधी के वर्ग के अनुसार दण्ड-कर में भी विभेद था। जैसे जिस शूद्र ने ब्राह्मण के साथ एक आसन पर बैठने की चेष्टा की है अथवा जिसने ब्राह्मण के साथ सड़क पर बराबरी का व्यवहार किया है उसे १०० पणों का अर्थदण्ड मिलना चाहिए। उसी प्रकार उस क्षत्रिय को भी जिसने ब्राह्मण के साथ दुर्व्यवहार किया है उतना ही दण्ड मिलेगा लेकिन वास्तव में ब्राह्मण पर आघात करने पर दण्ड की रकम दुगुनी हो जाएगी। ब्राह्मण के साथ अभद्र व्यवहार करने के अपराध में वैश्य को २५० पणों का अर्थदण्ड मिलना चाहिए। लेकिन एक क्षत्रिय के साथ अभद्र व्यवहार करने के अपराध में ब्राह्मण को केवल ५० पणों का दण्ड मिलेगा। और वैश्य के प्रति किए गए इस अपराध के दण्ड में ब्राह्मण को उक्त रकम का केवल आधा ही देना पड़ेगा। शूद्र के साथ दुर्व्यवहार करने के लिए ब्राह्मण को कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिए।[४७]

उस संक्रान्ति काल में इसी प्रकार की वस्तुस्थिति थी। सामाजिक-

आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होने के बाद अर्थात् मुद्रा के रूप में अर्थदण्ड के स्थान पर गौ के रूप में अर्थदण्ड देने की पद्धति चल निकलने पर सामाजिक असमानता की खाई और भी चौड़ी हो गई। दण्ड और उत्तराधिकार के नियमों में भी व्यावहारिक विभेद शुरू हो गए। वर्गसंघर्ष की एक नई और अधिक जटिल अवस्था का प्रारम्भ हो रहा था। लेकिन इस काल में ब्राह्मणों को हम सैनिक या शासन-सम्बन्धी अधिकारों का दावा करते नहीं पाते। बौधायन और आपस्तम्ब, दोनों ने ब्राह्मण को शस्त्र छूने से मना किया है।

धर्मशास्त्रों ने समाज को हमेशा ब्राह्मणों की दृष्टि से देखा है। इसलिए उनमें पक्षपातपूर्ण और सर्वथा एकांगी वर्णन मिलता है। और, उनकी कहीं पुष्टि भी नहीं मिलती। बौद्ध और जैन-ग्रन्थों में हिन्दू समाज का बिलकुल दूसरा ही चित्र मिलता है। इस प्रकार हमें उससे वास्तविक सामाजिक स्थिति की तुलना करने का अवसर मिलता है। लेकिन बौद्ध और जैन-ग्रन्थों पर विचार करने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे लेना चाहिए। हमने रामायण में देखा है कि किस प्रकार पहली बार वर्ग-संघर्ष में ब्राह्मणों की हार हुई। अब सवाल है कि महाकाव्य-काल के बाद इन पराजित ब्राह्मणों ने भला किस प्रकार बिलकुल उल्टी बात बताने वाले धर्मशास्त्रों को प्रस्तुत किया? उन्हें इतना शक्तिशाली होने का कब मौका मिला? जब हम देखते हैं कि महाभारत के युद्ध में प्रगतिशील पाण्डवों ने कट्टरपंथी और प्रतिक्रियावादी कौरवों को हरा दिया था, तब यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है।[१८] लेकिन स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत के युद्ध में ब्राह्मण वर्ग का किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं थी। 'महाभारत युद्ध ने भारतीय धाम शासकों की शक्ति का नाश कर दिया। क्षत्रिय सैनिक, अभिजातवर्गीय सामन्त और राजे-महाराजे हजारों की संख्या में मारे गए। परन्तु उधर ब्राह्मणों का दल हार भी गया, तो भी वर्ग के रूप में उनकी कोई हानि नहीं हुई। वे इस युद्ध की ज्वाला से सर्वथा अलग रहे और उनके धन-जन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उनकी सफलता युद्ध के परिणामों पर निर्भर नहीं करती थी। उनकी स्वार्थ सिद्धि केवल एक राजा को दूसरे राजा के विरुद्ध एक दल को दूसरे दल के विरुद्ध लड़ा देने में थी। इस उद्देश्य में सफलता भी मिली। महाभारत के युद्ध में क्षत्रियों की शक्ति सर्वथा विनष्ट हो गई और ब्राह्मणों को इतने से ही मतलब था। ब्राह्मणवाद का विरोध क्षत्रियों के नेतृत्व में ही होता था, और अब जबकि यह विरोध खत्म हो गया था ब्राह्मणवाद के लिए देश के सभी भागों में निर्विरोध फैलने का और यज्ञों एवं आचार-

विधियों के व्यापक प्रचार का स्वर्ण सुयोग प्राप्त था। राजाओं और जनता को ब्राह्मण जाति की गुलामी कबूल करनी ही थी।[४९] यही कारण है कि महाकाव्य-काल के बाद गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब की संहिताओं जैसे ब्राह्मण ग्रंथ लिखे और प्रचारित किये गए।

अब हम बौद्ध और जैन-ग्रन्थों पर विचार करें। मधुरसुत्त में मथुरा और कात्यायन के राजाओं के बीच बातचीत हुई है जिसमें उन लोगों ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों पर विचार किया है। बुद्ध का मत है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच वास्तविक विभेद धर्म (धम्म) के आधार पर ही हो सकता है न कि वर्ग विभेद (वर्ण) के आधार पर।[५०] यदि किसी क्षत्रिय ने यथेष्ट सम्पन्नता प्राप्त कर ली है तो वह किसी भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र से सेवा ले सकता है। उसी प्रकार अन्य तीनों वर्णों का कोई भी धनी आदमी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र से, अथवा सबसे काम करा सकता है और वे सब अपने स्वामी की सेवा में बिना अपनी जाति का ध्यान किये एक-सा उत्साह दिखला सकते हैं।[५१] इस प्रकार की कथाएँ 'अस्सलायन सुत्त', 'वसट्ठ सुत्त', 'अम्बट्ठ सुत्त' आदि में मिलती हैं। सभी बौद्ध और जैन ग्रन्थों में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बतलाया गया है। गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब की संहिताएँ कभी चलन में नहीं आईं। परन्तु उनसे हमें इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का दिमाग किस प्रकार से काम करता था। ब्राह्मणों के विरोध करने पर भी अन्तरजातीय विवाह प्रचलित था। बुद्ध ने ब्राह्मण अम्बट्ठ को बातचीत के सिलसिले में स्मरण दिलाया है कि वह कृष्णायन वंश का है जो कि एक क्षत्रिय राजा की दासी से निकला है।[५२] कुम्मास पिण्ड जातक में मालियों के राजा की पुत्री से कोशलराज सावत्ति के विवाह की कथा आई है।[५३] बनारस के राजा के ब्राह्मण पुरोहित को एक नीची जाति की स्त्री से अवैध पुत्र हुआ जिसे ब्राह्मण मान लिया गया।[५४] किसी व्यापारी की कन्या ने एक चाण्डाल को देखा और उस पर क्रुद्ध हो गई। परन्तु पीछे वह उसी चाण्डाल को ब्याही गई।[५५]

३ मौर्य युग (ई० पू० ३२३ वर्ष से ई० पू० १८५ वर्ष)

भारत पर सिकन्दर के आक्रमण से उत्तर वैदिक काल का अन्त हो गया। उस काल का सबसे प्रतापी राजा नन्दवंश का एक शूद्र था। नन्दों के सम्बन्ध में पुराणों में अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं। विष्णु एवं भागवत पुराणों में लिखा है कि नन्दवंश वाले द्वितीय परशुराम की भाँति क्षत्रियों का उन्मूलन कर

दिये। नन्दवंश के अन्तिम शासक को चन्द्रगुप्त मौर्य नामक एक दूसरे शूद्र ने कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण की सहायता से मार डाला। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना की, वह भारत के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्यों में से है। मौर्यों के उदय के साथ ही शासक वर्ग के रूप में क्षत्रियों की पूर्ण पराजय हो गई। अब प्रश्न है कि सेवा के हेतु जन्म धारण करने वाला शूद्र किस प्रकार सम्राट् के पद पर आसीन हो सका? क्या यह वर्ग-संघर्ष के बिना सम्भव था? हमने क्षत्रिय विश्वामित्र और ब्राह्मण वशिष्ठ के बीच होने वाले संघर्ष का रूप देखा है। वैदिक काल में परशुराम के नेतृत्व में भी ब्राह्मणों को क्षत्रियों से लड़ते देखा है। उत्तर वैदिक काल में राजशक्ति क्षत्रियों के हाथ में थी, यद्यपि महाभारत के बाद उनका बल सर्वथा क्षीण हो गया था। सम्भव है कि इस परिस्थिति से लाभ उठाकर ब्राह्मणों ने शूद्रों से साँठ-गाँठ की और क्षत्रियों के विरुद्ध संघर्ष शुरू कर दिया। अन्त में नन्द और मौर्यवंश के उदय के साथ क्षत्रियों की पूर्ण पराजय हो गई। प्रमाण उपलब्ध है कि नन्दों की नीति ब्राह्मणों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी।[५६] मौर्यकाल में मन्त्री कौटिल्य ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र' की रचना की। 'अर्थशास्त्र' में विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष राज्य के नियम दिये गए हैं। उसमें इसका भी स्पष्ट उल्लेख है कि राज्याज्ञा धार्मिक नियमों का भी प्रत्याख्यान कर सकती है।[५७] यह तो नहीं कहा जा सकता कि कौटिल्य ने शूद्रों के साथ न्याय किया, पर इतना अवश्य सत्य है कि उसने ऊपर के तीन वर्णों और शूद्रों के बीच अन्तरजातीय विवाह की अनुमति दी। उसने शूद्रों को आर्य स्वीकार किया और दासप्रथा उठा दी गई। उसने 'अर्थशास्त्र' में साफ शब्दों में लिखा है कि शूद्रों और अन्त्यजों को भी वेद पढ़ना चाहिए। ये सब कौटिल्य के कुछ क्रान्तिकारी कार्य थे। शूद्र के राजत्वकाल में किसी दूसरे प्रकार की व्यवस्था हो भी नहीं सकती थी। परन्तु स्थान-स्थान पर 'अर्थशास्त्र' शूद्रों के प्रति काफी कठोर भी है। डॉ० कालिदास नाग तथा अन्य विद्वानों का मत है कि बाद के रूढ़िपरायण ब्राह्मणों ने इन अंशों को अर्थशास्त्र में अपनी ओर से मिला लिया है। कौटिल्य ने शूद्रों को राज्याधिकरण में उपस्थित होकर गवाही देने का अधिकार दिया था। अर्थशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग दण्ड और जुर्माने के सम्बन्ध में है। अब तक ब्राह्मणों को अर्थदण्ड दिया ही नहीं जाता था अथवा दिया भी जाता था, तो वह नाम मात्र का। अन्य तीन वर्गों के मुकाबले में वे निश्चय ही बहुत कम जुर्माना देते थे। कौटिल्य ने कहा कि 'अगर किसी शूद्र को उसके सम्बन्धियों ने बेच दिया है या बन्धक

डाल दिया है और वह जन्मना दास नहीं बल्कि आर्य है और नाबालिग है तो उसे बेचने या बन्धक डालने वाले को जुर्माने में १२ पण देने पड़ेंगे। उसी प्रकार किसी वैश्य को बेचने या बन्धक रखने के लिए २४ पणों का क्षत्रियों के लिए ३६ पणों का और ब्राह्मणों के लिए ४८ पणों का जुर्माना होगा।[४८] कौटिल्य के इस आदेश से अनेक बातें साफ हो जाती हैं। यथा—शूद्र जन्मना आर्य भी था। अपराधी जितने ही ऊँचे वर्ग का होगा उसको सजा भी उतनी ही अधिक मिलेगी। आर्यत्व का दासता से कहीं कोई मेल नहीं है आदि आदि।

जायसवाल का मत है कि कौटिल्य ने आर्य शब्द को स्वतन्त्र शब्द का समानार्थक माना है उसका सिद्धान्त है कि आर्य दास नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वह उन स्वतन्त्र शूद्रों को भी ले आता है जिन्हें वह आर्य प्राण (स्वास प्रतिस्वास से आर्य अर्थात् स्वतन्त्र व्यक्ति) कहता है।[४६] अर्थशास्त्र से हम निश्चय निकाल सकते हैं कि 'आर्यत्व विशेष प्रकार की आर्थिक-सामाजिक प्रथा पर निर्भर करता था। अगर आर्य शब्द का अभिप्राय किसी जाति विशेष से होता तो निश्चय ही उसका अर्थ नहीं बदलता। कौटिल्य इस बात से भी सावधान था कि अपराध के हेतु मिलने वाले दण्ड से—यहाँ तक कि मृत्युदण्ड से भी ब्राह्मण बच न निकलें।

डा० जायसवाल का विचार है कि देश के सभी दीवानी और फौजदारी क़ानून अर्थशास्त्र में सही सही लिखे जाते थे। हिन्दू विधान वास्तव में धर्मशास्त्र से नहीं निकला है बल्कि अर्थशास्त्र पर आधारित है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के शासन-काल तक आते आते ब्राह्मणों के पाखण्ड का बचा खुचा चिह्न भी नष्ट हो गया। पशु बलि पर सर्वथा प्रतिबन्ध था और उसके साथ साथ वैदिक विधि व्यवहारों पर रोक लगा दी।[१] पंडित हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि ये सब कानून ब्राह्मण वर्ग के विरोध में बनाये गए थे और चूँकि इन्हें शूद्र शासक ने चलाया था, इसलिए ब्राह्मणों को इनसे खास चिढ़ था।[११] एक शिलालेख में भूदेवों (पृथ्वी पर के देवताओं—ब्राह्मणों) को झूठ देवता कहा गया है।[१२] ब्राह्मण जाति के अधिकारों और विशेषाधिकारों को आखिरी ठोकर उस समय लगी जब अशोक ने धर्म महामात्य नियुक्त किये। दण्ड के मामले में सभी बराबर थे। अदालत के सामने किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार कानून की नजर में सबकी समानता का सिद्धान्त स्थापित हो गया। फलतः ब्राह्मण नौकरशाही का मद भी धूलिसात हो गया। अशोक तथा उसके परवर्ती मौर्य शासकों

ने बौद्ध धर्म को राजधर्म मान लिया था और बौद्ध धर्म वेदों की मर्यादा और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रत्याख्यान करता था, ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं रखता था। इसलिए उग्र वर्ग संघर्ष का दूसरा प्रकरण आरम्भ हो गया।

शुंग-कण्व युग

मौर्य वंश के अन्तिम शासक बृहद्रथ को उसके ब्राह्मण महासेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मार डाला और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि १८४ ई० पू० में एक ब्राह्मण राजसिंहासन पर आसीन हुआ। शुंगों के उदय के बाद ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया अपने चरमबिन्दु पर पहुंच गई। बहुतेरे विद्वान् इस युग को ब्राह्मणवादी प्रतिक्रान्ति का काल मानते हैं। पुष्यमित्र ने राजगद्दी पर बैठने के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ किया। उसके शासन काल में सभी बौद्ध विहार विनष्ट कर दिये गए। बौद्ध भिक्षुओं की हत्या की गई। वैदिक आचारों का पुनरुत्थान हुआ।[१३] जायसवाल के शब्दों में यह 'कट्टरपंथी प्रतिक्रांति' थी। इसी युग में 'मानव धर्मशास्त्र' अर्थात् मनुस्मृति लिखी और प्रचारित की गई। जायसवाल का कहना है कि इस ग्रन्थ से ही प्रमाणित हो जाता है कि इसकी रचना पुष्यमित्र के शासन-काल में हुई क्योंकि इसमें पुष्यमित्र द्वारा की गई राजहत्या का समर्थन किया गया है। 'मनुस्मृति' ने बड़ी कठोरता से 'अर्थशास्त्र' तथा मौर्यकालीन अन्य नियमों को उलटकर रख दिया। जायसवाल का कथन है कि मनुस्मृति इस प्रकार के अपने राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक पूर्वाग्रहों से आक्रांत है और सम्भवतः इसी कारण इसको इतनी ऊँची मान्यता प्राप्त है। राज्यानुमोदित होने के कारण ही इसके विधान को लोगों ने स्वीकार कर लिया। यह भी सम्भव है कि इस धर्मशास्त्र को शुंग काल का शासन विधान मान लिया गया।[१४]

अब हम जरा इस 'मानव धर्मशास्त्र' का संक्षेप में विवेचन करें। इसमें लिखा है कि परिस्थिति विशेष में राजा की हत्या भी की जा सकती है। इसका एक-मात्र उद्देश्य पुष्यमित्र के अपराध की सफाई देना है। यह धर्मशास्त्र शूद्रों के विरुद्ध जितनी दूर तक गया है, उतनी दूर तक दूसरा कोई धर्मशास्त्र नहीं जाता है। इसमें ब्राह्मणों को शूद्र शासक के राज्य में रहने से मना किया है।[१५] इतना ही नहीं इसमें स्पष्ट लिखा गया है कि शूद्र न्यायाधीश नहीं हो सकता।[१६] यह नियम मौर्यकालीन नियम के ठीक विपरीत था। इसमें यह भी लिखा है कि जिस राज्य में शूद्रों की संख्या विशाल है और वे नास्तिक हैं और वहाँ द्विज नहीं हैं, वह

राज्य अकाल तथा नाना प्रकार के रोगों का शिकार होकर शीघ्र ही विनष्ट हो जाएगा। ये बातें वस्तुतः मौर्य राज्य और शूद्र राज्य के प्रति ब्राह्मणों की शापवाणी थी। इस ग्रंथ में शुरू में ब्राह्मणों को शूद्रा से विवाह करने की अनुमति दी गई है।[18] लेकिन आगे चलकर ऐसे विवाह को वर्जित कर दिया गया है।[19] इसमें लिखा है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों के इतिहास में परम्परा में कहीं भी उल्लेख नहीं है कि उन्होंने विपरीत परिस्थिति में भी शूद्रा से विवाह किया।[20] मानव धर्मशास्त्र का इतिहास के प्रति कैसा सम्मान भाव था यह इस उद्धरण से प्रकट है। हम जानते हैं कि इस काल के ठीक पूर्व मौर्यकाल में कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने मिश्रित विवाहों का उल्लेख किया है।[21]

मानव धर्मशास्त्र में इस प्रकार की विरोधी बातें भरी पड़ी हैं। इसने जान-बूझकर शूद्र को दास मानने से इनकार किया है। इसमें लिखा है कि जिस प्रकार मवेशी और घोड़ों के बच्चे उनके मालिक की जायदाद हो जाते हैं उसी प्रकार दासी की सन्तानें उसके स्वामी की सम्पत्ति हो जाती हैं। यहाँ भी अर्थशास्त्र के नियम को ताक पर रख दिया गया है। ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से रची गई पुरानी दण्ड प्रणाली को फिर से जारी किया गया। यदि कोई शूद्र किसी द्विज को अपशब्द कहता है तो उसकी जीभ काट ली जाएगी, क्योंकि वह नीच वर्ग में उत्पन्न है। यदि वह द्विज के नाम और जाति का घृणापूर्वक उच्चारण करता है तो उसके मुख में दस अंगुल लम्बी लोहे की कील घुसेड़ दी जाएगी। यदि वह ब्राह्मणों को उनका कर्तव्य सिखलाने की धृष्टता करता है तो राजा उसके मुख और कान में गरम तेल डलवा देगा। और नीच जाति का कोई व्यक्ति अपने जिस अंग से (अपने से श्रेष्ठ तीन) उच्चतम जातियों में से किसी भी जाति के व्यक्ति पर आघात करेगा तो उसका वह अंग काट लिया जाएगा। ये सब मनु की सीख हैं।[23] इतना ही नहीं, 'मानव धर्मशास्त्र' ने शूद्रों को अपनी सम्पत्ति से भी वंचित कर दिया। ब्राह्मण बड़ी आसानी से दास शूद्र की सम्पत्ति जब्त कर सकता है, क्योंकि शूद्र की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं हो सकती। जिस वस्तु पर स्वामी का अधिकार हो सकता है, वैसी किसी वस्तु पर दास का अधिकार नहीं हो सकता।[24]

ये तमाम बातें अर्थशास्त्र के विपरीत पड़ती हैं। इनमें हमें कट्टरपंथी ब्राह्मणों की भ्रष्ट और ओछी मनोवृत्ति की तसवीर मिलती है। उन्होंने अपनी श्रेष्ठता पर विशेष रूप से जोर दिया है। मानव धर्मशास्त्र में भी लिखा

है 'अर्थाभाव के कारण मरणासन्न रहने पर राजा को वेदज्ञ ब्राह्मण से कर नहीं लेना चाहिए।'"[७४] शूद्रों के लिए अग्नि-परीक्षा जैसी प्रथाएँ चालू की गई। कौटिल्य ने अपराधी का पता लगाने के लिए जाँच-पड़ताल की जो विधि चलाई थी, वह उठा दी गई। इस तरह का वर्ण-विभेद रोजमर्रा के आर्थिक सम्बन्धों में भी बरता जाता था। जैसे "महाजन कर्जदार ब्राह्मण से सैकड़े दो पण की दर से सूद लेगा, क्षत्रिय से सैकड़े तीन पण की दर से, वैश्य से सैकड़े चार पण की दर से और शूद्र से सैकड़े पाँच पण की दर से।"[७६] कौटिल्य ने सूद की दर में इस तरह का वर्ण विभेद नहीं किया था।

इस प्रकार अशोक की व्यवहार-समता शुंग काल में बिलकुल खत्म हो गई। ब्राह्मणों के लिए मृत्यु दण्ड उठा दिया गया। "ब्राह्मणों के शरीर पर किसी प्रकार की चोट नहीं लगनी चाहिए ब्राह्मण-हत्या से बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर्म दुनिया में नहीं है, इसलिए राजा को ब्राह्मण-वध की बात मन में भी नहीं लानी चाहिए।'"[७७]

ऐसे समय में जन्म और वर्ण के प्रश्न को महत्त्व देना स्वाभाविक ही था। इसलिए सजातीय विवाह पर भी विशेष रूप से जोर दिया जाता है। मनुस्मृति में कई मिश्रित जातियों का उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा है— 'वर्णों के सम्मिश्रण के कारण, विवाह के लिए अनुपयुक्त स्त्री से विवाह करने के कारण तथाविहित कर्तव्यों की अवहेलना के कारण मिश्रित जातियाँ बन गई हैं।'"[७८] अतः मनुस्मृति' की दृष्टि से उच्च वर्णों की रक्त-शुद्धता का आग्रह करना सर्वथा युक्तिसंगत था—"अच्छा बीज हमेशा प्रशंसित होता है।'"[७९]

'मानव धर्मशास्त्र' में ब्राह्मणों ने पहले-पहल खुलकर अपने विशेष राजनीतिक अधिकारों का दावा किया। उसमें लिखा है— बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी राजा ब्राह्मणों को क्रुद्ध न करे, क्योंकि क्रुद्ध होने पर ब्राह्मण शीघ्र ही राज्य का नाश कर सकता है शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, ब्राह्मण महादेव के समान है।"[८०] उसमें यह भी बताया गया है कि राजा सात-आठ ऐसे ब्राह्मणों को मंत्री रखे जो कि वेदों में पारंगत हैं और वंशपरम्परा से जिनका राजदरबार से सम्बन्ध हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के वर्ण विभेद का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के दावे का चरम रूप 'मनुस्मृति में इस प्रकार आया है— महासेनापति का पद तथा राज्य पाने का अधिकार दण्ड देने और नेतृत्व करने का अधिकार तथा सब पर शासन करने का अधिकार उन्हीं लोगों को मिलना चाहिए जो वेदों में निष्णात हैं।"[८१] इसके पहले किसी भी संहिता या स्मृति में इस प्रकार का दावा पेश

नहीं किया गया था। डा० जायसवाल का कहना है कि ये सारी बातें दरअसल पुष्यमित्र-कृत राजहत्या का चातुरीपूर्ण युक्तिपोषण है। 'मनुस्मृति' ने राजा के दैवी अधिकारों का भी प्रतिपादन किया है।[८२] इसका परिचय अवतार-पुरुष की कल्पना में मिलता है। यह एक स्पष्ट संकेत है जिससे ज्ञात होता है कि हिन्दू समाज सामन्तवादी स्वरूप ग्रहण कर रहा था।

दूसरा धर्मशास्त्र जो कि ब्राह्मण शासनकाल में लिखा गया वशिष्ठ-स्मृति है। इसमें मनुस्मृति की बातों का समर्थन किया गया है। परन्तु यह स्मृति क्षत्रिय के प्रति अधिक कठोर है। इसमें लिखा है कि ब्राह्मण को लूटनेवाला व्यक्ति बिखरे बाल दौड़ता हुआ आये और राजा के समक्ष उपस्थित होकर कहे, महाराज मैं लुटेरा हूँ, मुझे दण्ड दीजिए। इस पर राजा उसे उदुम्बर काष्ठ का बना शस्त्र दे जिससे वह व्यक्ति आत्महत्या कर ले। वेदों में प... गया है कि मृत्यु के बाद वह पापमुक्त हो जायगा।[८३] पतंजलि पुष्यमित्र ... समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि के व्याकरण की जो टीका लिखी है उसमें उदाहरण के रूप में उन्होंने भी मनु और वशिष्ठ के मत को स्वीकार किया है।

आन्ध्र-कुषाण युग

शुंग वंश के बाद कण्व वंश का शासनकाल आया। यह ब्राह्मण वंश था। इस जमाने में मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) और 'वशिष्ठ-स्मृति' को सर्वमान्य शासन एवं दण्ड विधान मान लिया गया। कण्वों का शासनकाल ई० पू० ७२ वर्ष में शुरू हुआ और ई० पू० २७ वर्ष में समाप्त हो गया। इस प्रकार शुंग एवं कण्व वंश के ब्राह्मणों ने १५७ वर्ष तक भारत में राज्य किया और १५७ वर्ष तक मानव धर्मशास्त्र का समाज में बोलबाला रहा। किन्तु उत्तर-कण्व काल में कलिंग में खारवेल का उदय हुआ। कहा जाता है खारवेल ने मगध के कण्व शासक भस्मित को मार डाला। उसके अभिलेखों में लिखा है कि यवनराज दिमित (मध्य एशिया का डिमित्रियस) उसके भय से वापस लौट गया था। उसने (खारवेल) बौद्ध सम्राट अशोक की भाँति जैन पंडितों की एक सभा बुलाई। इसी काल में बैक्ट्रिया के यवन शक और अंत में कुषाण आदि मध्य एशिया की जन जातियाँ उत्तर पश्चिम के दर्रों को पार कर भारत में प्रवेश करने लगीं। ये आक्रमणकारी विभिन्न भाषा भाषी थे। इनका आक्रमण अनेक वर्षों तक चला। अंत में वे भारत के पश्चिमी एवं उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के शासक बन बैठे। इन आगन्तुकों में कुषाणों ने उत्तर भारत की समाज व्यवस्था में विशेष रूप से भाग

लिया। वे पूर्णतः भारतीय हो गए। उन्होंने अपनी ही जाति के शासक कनिष्क के राजत्व में, जिसका साम्राज्य बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था, बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इसलिए वे ब्राह्मणों के लिए कभी ग्राह्य नहीं हो सके। ब्राह्मणों ने हमेशा उन्हें विदेशी और म्लेच्छ माना। जैसा कि जायसवाल ने बताया है, इसका एक कारण यह था कि "कुषाण वंश के प्रारम्भिक दिनों में उस वंश के किसी राजा ने अग्निदेव के मन्दिरों को गिराकर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवा दिए सभी जातियों को मिटाकर व्यावहारिक रूप में एक जाति बनाई गई लोग हिन्दू देवता की जगह अवशिष्ट इण्डिया की पूजा करने लगे। वर्णाश्रम प्रथा मिटा दी गई।'[८८] बौद्ध धर्म, अन्तराष्ट्रीय धर्म तो था ही, अब काफ़ी आक्रामक भी हो गया। इसके फलस्वरूप बड़े-बड़े सामाजिक परिवर्तन हुए। कुषाण राज्य के बनारस स्थित प्रान्तपति ने अपने क्षेत्र को करीब-करीब ब्राह्मण विहीन बना दिया। उसने उच्चवर्गीय ब्राह्मणों का दमन किया और विदेशियों तथा निम्नजातीय व्यक्तियों को पदों पर ला बिठाया। यह सामाजिक अत्याचार और धार्मिक कट्टरता की नीति थी, जिसका पालन परवर्ती कुषाण शासकों ने भी किया। इस नीति के पीछे कुछ राजनीतिक उद्देश्य भी था। ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था में कुषाण वंश वालों के लिए तिरस्कार-ही-तिरस्कार था। स्वभावतः ऐसी समाज-व्यवस्था का नाश करने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किए।[८९] उनकी नौकरशाही ने उत्तर भारत में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का सर्वथा ध्वस्त कर दिया।

लेकिन उत्तर-दक्षिण भारत में आन्ध्र के सातकर्णी अथवा सातवाहन वंश की छत्रच्छाया में ब्राह्मणवाद की जड़ जम रही थी। सातवाहन ब्राह्मण वंश के थे। कुषाण वंश वाले बाहर से आए थे, किन्तु ये भारतीय थे। इसलिए इनमें कुषाणों की अपेक्षा अधिक राष्ट्रप्रेम था। सम्भव है कि उनका यह दावा कुषाणों के विरुद्ध युद्ध ठानने का बहाना मात्र था। खैर, जो हो, ब्राह्मणों की उत्तर भारत में जो हानि हुई वह दक्षिण में एक ब्राह्मणवंशीय शासन के राजत्व में पूरी हो गई। गौतमीपुत्र सातकर्णी के शासनकाल में क्षत्रियों का भी दमन कर दिया गया। इस प्रकार ब्राह्मणों का वर्ग-संघर्ष क्षत्रिय और बौद्ध—दोनों के विरुद्ध था।

इसी काल में 'याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र' की रचना हुई। स्वर्गीय जायसवाल के अनुसार इसका रचनाकाल ई० बाद दूसरी शताब्दी है। यह धर्मशास्त्र मनु के धर्मशास्त्र का विकसित रूप है। इसमें बौद्धों के प्रति घृणा दिखलाई गई है क्योंकि उन दिनों भी बौद्ध धर्मावलम्बी कुषाण-वंशवालों का राज्य क़ायम था। जायसवाल का मत है कि याज्ञवल्क्य ने मध्य देश के किसी

भाग में इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें लिखा है कि पीत चीवरधारी बौद्धों का दर्शन अशुभ होता है।[८६] किन्तु इसमें पर-धर्मियों के प्रति या म्लेच्छों के प्रति भी कहीं खुलेआम और सीधे तौर पर विद्वेष प्रदर्शित नहीं किया गया है। डा० दत्त का मत है "चूंकि उन दिनों उत्तर भारत में कुषाण वंश का राज्य था इसलिए याज्ञवल्क्य ने अपने अभिमत को परिस्थिति के अनुरूप प्रकट किया।"[८७] यह समय का ही प्रभाव था कि इस धर्मशास्त्र में 'मनुस्मृति' की अपेक्षा शूद्रों की स्थिति अच्छी दिखलाई गई है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' के अनुसार उन्हें चान्द्रायण व्रत रखने की भी छूट थी। पहले यह अधिकार केवल ब्राह्मणों का ही था। इसी प्रकार तमाम अतिरंजपूर्ण दण्ड विधान, जो शूद्रों के दमन के लिए बनाये गए थे, उठा दिये गए थे। स्मरणीय है कि उन दिनों महाराष्ट्र में आभीरराज ईश्वरसेन के नेतृत्व में शूद्रों का पुनरुदय हो रहा था।[८८] ऐसे समय में याज्ञवल्क्य स्मृति का लिखा जाना ब्राह्मणों की गुप्त कार्रवाई थी। जिस समय यह स्मृति लिखी गई उस समय इसको मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। लेकिन आगे चलकर—गुप्तवंशीय सम्राटों के राज्य काल में—इस स्मृति ने सम्पूर्ण आर्यावर्त में मनुस्मृति का स्थान ले लिया। मनुस्मृति रद्द कर दी गई।[८९] एक और बात स्मरणीय है। अन्य स्मृतियों की भांति याज्ञवल्क्य स्मृति ने यह नहीं लिखा है कि आर्यावर्त किस भू भाग को कहते थे। वस्तुत आर्यावर्त की परिभाषा उस समय थी भी कठिन क्योंकि ब्राह्मणवादी कट्टरता के इस गढ़ पर उन दिनों बौद्ध धर्मावलम्बी कुषाण राजाओं का ही आधिपत्य था।

भारशिव वाकाटक युग (ई० पू० १५० वर्ष से ई० पू० ३२० वर्ष तक)

भारशिव वाकाटक काल को कट्टरपंथी ब्राह्मणवादी लीला का पूर्वाभिनय कह सकते हैं। यों तो प्राक् कुषाण काल के उपरान्त भारतीय इतिहास में अन्धयुग आता है। इस काल में संतुलन और समझौते के लिए सब प्रकार के प्रयत्न किये गए। परन्तु समय की कसौटी पर पुरानी कपालकथाएं खरी नहीं उतर सकीं। इसलिए वर्णाश्रम धर्म पर आधारित समाज-व्यवस्था के दायरे में नई नई आख्यायिकाओं की सृष्टि अवश्यम्भावी थी। वैदिक गाथाओं और आचारों में इतना दम बाकी नहीं बचा था कि वे बौद्ध धर्म से लोहा लेतीं यद्यपि विदेशी कुषाणों के विरुद्ध युक्तिपोषित राष्ट्रीयता ने काफ़ी दूर तक ब्राह्मणवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अन्धयुग की तमिस्रा को चीरकर मध्य भारत में भारशिव नागों का उदय हुआ। वे अपने को क्षत्रिय कहते थे।[९०] वे प्राचीन काल के क्षत्रिय वंशोदय थे, अथवा कुसमय समय पर बनने

वाले नवक्षत्रिय, यह विवादास्पद विषय है। 'मजुश्री मूलकल्प' म उन्हे वश्य कहा गया है। जायसवाल का कहना है कि भारशिवो के जमाने मे बौद्ध धम के विरुद्ध शव धम ने सिर उठाया था। "समाज की पुनर्व्यवस्था के लिए दोष शोधन के रूप मे शैव सयास आवश्यक हो गया था सुधार के लिए शैवमत की नितान्त आवश्यकता थी।"[६१] जायसवाल का यह भी कहना है कि बौद्ध धर्मावलम्बी कुषाणो स लडने के लिए भारशिवा ने कई राज्यो को मिलाकर सघ बद्ध किया। फर्जी राष्ट्रीयता के हिमायती भारशिवो क लिए इसके सिवा कोई चारा भी नही था। उन्होने प्राचीन भारतीय परम्परा का उद्धार करा का, वदिक आचार विचारो के एकमात्र ज्ञाता के रूप म पुरोहित वग को पुन प्रतिष्ठित करने का व्रत लिया था। मनोवज्ञानिक दृष्टि से भी उनके लिए यह आवश्यक था कि वे जाति एव रग की समता, प्राचीन जातीय परम्पराओ की अवमानना तथा अन्तर्राष्ट्रीयता आदि, बौद्ध धम की सभी मायताओ का विरोध करते। इस प्रकार 'विष्णुपुराण' म वर्णित नागा न कट्टरपथी ब्राह्मणवाद का नेतृत्व किया। लेकिन प्रश्न है, ये नाग कौन थे? गुणदा महादेवी के नारायणपाल शिलालेखो एव अभिलेखविद श्री हीरालाल के अनुसधानो से ज्ञात है कि समाज मे वर्णों की सृष्टि करने वाल तत्वा म परिवतन हो रहे थे। जन-समाज से नये-नय समुदाय निकलते थे और विभिन्न वर्णों म अपने व्यवसाय के अनुसार अपनी कोई जगह बना लेते थे। फिर जिस वग म वे मिलते थे, उसका नाम भी धारण कर लेते थे।[६२] नागवश भी वसा ही एक समुदाय था।

वाकातक ब्राह्मण वश का उदय २८४ ई० से ३४२ ई० के बीच म हुआ। गौतमीपुत्र वाकातक ने भारशिव राजा भवनाग की कन्या से विवाह किया। गुप्तवश के अभ्युदय के पूव इसी वाकातक वश की शक्ति देश मे सवप्रधान थी। भारशिवो की भाति वाकातक वश वाले भी शव मतावलम्बी थे। वे ब्राह्मणवाद तथा यज्ञ याग के अनुयायी थे। उन्ही दिना दक्षिण मे भी पल्लव वश का शासन चल रहा था। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण भारत पर ब्राह्मणो का शासन पुन स्थापित हो गया था। वर्णाश्रम धम का पुनरुत्थान भी स्वाभाविक ही था। इन ब्राह्मणवादी शासको ने अनेक वैदिक यज्ञ भी किए। उनका कहना था कि ब्राह्मण धम म सुधार लाना उनका आवश्यक कतव्य है।

गुप्त युग (ई० पू० ३२०—ई० ५०० ई०)

गुप्तवश का शासनकाल भारतीय इतिहास मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी युग मे आधुनिक हिंदू धम का स्वरूप निर्धारित हुआ। यह धम

पुरानी वर्णाश्रम धम-व्यवस्था के ढांचे के अदर होनेवाले परिवतनो और संशोधनो का अन्तिम अध्याय था जिसमे निग्रहादि बौद्ध धम की अनेक प्रथाओ को प्रतिक्रान्तिमूलक माना गया। वेदो को ईश्वरकृत ग्रन्थ स्वीकार किया और ब्राह्मणो को सब वर्णों म श्रेष्ठ बताया। पाप-कम और प्रायश्चित के प्रश्नो पर भी विचार होने लगा। इस तरह ब्राह्मणवाद भारत का जातीय धम बन गया। उसके बाद स इस धम ने किसी भी अभारतीय प्रभाव को स्वीकार नही किया और क्रमश भारत की राष्ट्रीयता का प्रतिरूप बन गया।

गुप्तवश वाले कौन थे ? उन्होने कहीं भी अपने वण का उल्लेख नहीं किया है। दूसरा कोई भी शासक वश अपने वण का उल्लेख करने से नही चूका है। जायसवाल लिखते हैं, उन्होने कहीं भी अपनी उत्पत्ति या वण का उल्लेख नहीं किया है ऐसा जान पडता है उन्होंने जान बूझकर इन बातो पर पर्दा डाला है। [६४] 'कौमुदी महोत्सव' के आधार पर जायसवाल का मत है गुप्तवश वाले कारस्कार नामक अछूत वण के थे। कारस्कारो के सम्बन्ध म बौधायन ने लिखा है कि ब्राह्मणो को उनसे बचना चाहिए। उनसे मिलकर वापस आने पर उन्हे प्रायश्चित करना चाहिए। [६८] जायसवाल लिखते हैं कि जब चन्द्रगुप्त प्रथम राज्यासीन होने के लिए पाटलिपुत्र आया तो उसे तीव्र विरोध का सामना करना पडा। इसके दो कारण थे एक तो यह कि वह कारस्कार वण का था दूसरे उसने बौद्ध मतावलम्बी लिच्छवी राजा की कन्या से विवाह किया था। यह विरोध तभी शान्त हो सका जबकि गुप्तवश वालो ने ब्राह्मणो की अधीनता पूणत स्वीकार कर ली और भारशिवो वाकाटको और पल्लवो की भांति ही कट्टरपंथी ब्राह्मणवाद का ध्वजावाही होना कबूल किया। इस प्रकार अज्ञात कुल गुप्तवश वाले परम हिन्दू बन गए। जो ब्राह्मणो द्वारा तिरस्कृत कारस्कार थे, वे वर्णाश्रम धम और कट्टरपंथी ब्राह्मणवाद के प्रचारक बन गए।

जैसा कि हम ऊपर कह आए है वेदवाद बौद्ध धम को पराभूत करने म सर्वथा असफल रहा। यही कारण है कि भारशिव वाकाटक काल म वेदवाद पीछे हटता गया और देवताओ के इद गिद नये मतो का सृजन होने लगा। वैदिक हिन्दुत्व के स्थान पर पौराणिक हिन्दुत्व की प्रतिष्ठा हुई जोकि आज तक चल रहा है। यदि भारशिव शैव थे तो गुप्तवश वाले वैष्णव। उनके शासन काल म स्मृतियाँ विधान बन गई। वर्णाश्रम धम एव ब्राह्मणो की श्रेष्ठता मे विश्वास रखना लोगो के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया। महाकाव्यो के नायक राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार माने गए। वैदिक ज्ञान के जनजातीय

देवताओं के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रभावशाली त्रिमूर्ति प्रतिष्ठित हुई। शक्तिशाली वैदिक देवता इन्द्र स्वर्ग की नौकरशाही का प्रधान अधिकारी मात्र रह गया। जो इन्द्र पहले दानवों का संहार करता था, वही अब दानवों से बराबर हारता है हारकर विष्णु की सहायता मांगता है, और विष्णु की सहायता मिलने पर ही वह युद्ध में विजयी हो पाता है। संस्कृत साहित्य में भी ब्राह्मणों की महिमा सिद्ध करने के लिए अनेक उलट फेर किये गए, तभी एक पुराण में तो यहां तक लिखा हुआ है कि महर्षि भृगु एक बार क्षीर-समुद्र में गए। वहां सर्वशक्तिमान् विष्णु को सोते देखकर उन्होंने उनकी छाती में एक लात मारी। उस पाद प्रहार का चिह्न विष्णु की छाती पर उभर आया और विष्णु ने इसे अपना धन्य भाग समझा।[६६] क्या इससे भी बढ़कर वर्गगत अहम्मन्यता का प्रचार हो सकता है?

'याज्ञवल्क्य संहिता' के अलावा इस काल के अन्य धर्मशास्त्रों में नारद, विष्णु और पराशर संहिताएँ भी हैं। विष्णु-संहिता तो निश्चय ही 'मनुस्मृति' और याज्ञवल्क्य संहिता' के बाद लिखी गई, क्योंकि उसमें इन दोनों ग्रन्थों की बातें उधार ली गई हैं। उसमें लिखा है कि पीले वस्त्र वाले सन्यासियों और कापालिकों का दर्शन अमंगलकारी होता है।[६७] इसके अनुसार अन्त्यजों और म्लेच्छों से बातचीत करना भी पाप है।[६८] इस संहिता ने आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार की है—'जिन देश में चातुर्वर्ण-व्यवस्था नहीं है, उसे ऋषि मुनि म्लेच्छों की भूमि कहें। आर्यावर्त ऐसे देशों की सीमा से सर्वथा दूर है।[६९] इससे साफ पता चलता है कि जहां वर्णाश्रम धर्म नहीं है, वहां आर्यावर्त नहीं हो सकता। इस संहिता ने विष्णु की पूजा की विशेष विधियां निर्धारित की हैं।

इसमें यह भी लिखा है कि "अगर गुप्त धन हाथ लगे, तो ब्राह्मण उसका स्वयं उपयोग कर सकता है।"[१००] इस कथन से 'विष्णु संहिता' के ब्राह्मणों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का पता लग जाता है। इतना ही नहीं, इसके अनुसार ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता। और "राजा निम्न-वर्ग के किसी व्यक्ति का वह अंग काट ले, जिससे उस व्यक्ति ने अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति पर आघात किया है।"[१०१] उसी प्रकार अपराधी के वर्ग के अनुसार ही उसको कम या ज्यादा अर्थदण्ड देना चाहिए।

'विष्णु संहिता' में छुआछूत का सवाल भी स्पष्ट रूप से उठाया गया है। लिखा है 'अछूत जाति का कोई व्यक्ति यदि जान-बूझकर तीनों उच्च जातियों

र से किसी व्यक्ति को छू देता है तो उसे मृत्युदण्ड मिलेगा। [११] सम्पत्ति
- उत्तराधिकार के मामले म इस संहिता ने मानव धर्मशास्त्र का अनुसरण
ाया है। प्रतिलोम विवाह इस युग की विशेषता थी। सभी प्रकार के
सामाजिक सम्बन्ध केवल सजातीय लोगो के बीच ही हो सकते थे। [१२]

विष्णु संहिता की अपेक्षा पराशर संहिता कुछ उदार है। फिर भी उस
संहिता ने 'विष्णु संहिता' का समर्थन किया है। उसम गोमांस भक्षण को पाप
बताया है और अन्तरजातीय भोज से लोगो को मना किया है। इस स्मृति के जमाने
तक क्षत्रिय जाति ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया से पूर्ण पराभूत हो गई थी। उनके
हाथ का रांधा हुआ चावल ब्राह्मणो के लिए अग्राह्य था। हाँ मनु के समय की
अपेक्षा इस काल म वैश्यो और शूद्रो की स्थिति कुछ अच्छी थी। पराशर ने
लिखा है— वैश्य या शूद्र को सर्वदा व्यापार कृषि या गृहोद्योग पर निर्भर
रहना चाहिए। [१३] यह आश्चर्य की बात नही क्योंकि उन दिनो आखिर
शूद्र जाति वाले गुप्तवंशीय राजाओ का ही तो शासन चल रहा था।

नारद-स्मृति भारतीय इतिहास के मध्यकाल म लिखी गई। इसम
कमजोर और अयोग्य राजा का भी आदेश पालन करने का आग्रह किया गया
है। [१४] मनु ने पुष्यमित्र द्वारा राजहत्या की सफाई दी। नारद ने अयोग्य
राजा का भी समर्थन किया। इन दोनो म किसी प्रकार का अन्तरविरोध नहीं
है। मनु के जमाने म ब्राह्मण अपने को सुरक्षित नही समझते थे। वे सोचते थे
कि अब्राह्मण राज्यो का उदय सम्भव है। कुषाण वंश के उदय के रूप म ऐसा
हुआ भी। किन्तु गुप्त काल म जबकि ब्राह्मणो ने क्षत्रियों तथा अन्य जातियो
को पूरी तरह कुचल डाला था मानव धर्मशास्त्र का ऐतिहासिक कर्तव्य पूरा
हो गया। इसलिए नारद ने निर्द्वन्द होकर मनुस्मृति से अलग अपना अभिमत
दिया। ब्राह्मण इस काल म देवब्रह्म (अर्थात् ब्राह्मण देवता) कहलाते थे। अपने
राजनीतिक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए उन्होने सैद्धान्तिक रूप से तो नही पर
व्यवहारतः वेदो को तिलांजलि दे दी। ब्राह्मणवाद और बौद्धधर्म दोनो के
निरन्तर संघर्ष से लोग ऊब गए थे और समझौता कर लेना चाहते थे। इसके
बिना समाज या राज्य की स्थिरता असम्भव थी। बौद्ध धर्म ने महायान पथ का
रूप धारण कर समझौते का हाथ बढ़ाया और ब्राह्मणवाद ने भी अहिंसा तथा
अन्य बौद्ध सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया। इसलिए वेद विहित बलि प्रथा
छोड़ दी गई। जैसा कि नारद और पराशर स्मृतियो से प्रकट है वैश्यो और
शूद्रो के प्रति भी उदारता दिखलाई गई। इतना ही नही स्वयं बुद्ध को ब्रा
ह्मणवादी हिन्दू धर्म म मिला लिया और उन्हें विष्णु का एक अवतार

माना गया। भगवद्गीता में लिखा है—"मैंने गुण और कर्म के अनुसार चार वर्णों की सृष्टि की है।"[1] क्षत्रियों की शक्ति का पूर्णतः नाश हो चुका था, इसलिए ब्राह्मणों ने पहले के क्षत्रियों द्वारा प्रणीत उपनिषदों को स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। यही कारण है कि गीता में हम वेदान्त और सांख्य के प्रभाव पाते हैं।

यह सामन्तवाद का जमाना था। वैदिककालीन यायावर युग कभी का समाप्त हो गया था। निजी सम्पत्ति का विकास हो चला था। औद्योगिकों के संघ भी बन रहे थे। सजातीय विवाह भी शुरू हो रहा था। गुप्तकाल के पिछले दिनों में जन्म की प्रधानता, वर्ण की श्रेष्ठता, निम्न वर्ग के लिए अधिकाधिक अपदण्ड की व्यवस्था, अन्तरजातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, भाँति भाँति की दासता, भू-स्वामित्व के आधार पर आभिजात्य की स्थापना, सामन्तवादी भूमि व्यवस्था, राजा के दैवी अधिकार तथा सामन्तवादी श्रेणी शृङ्खला आदि की विचित्र प्रवृत्तियाँ प्रकट हो गयी थीं। मौर्यों के कौन-से विशेषाधिकार थे, इसकी जानकारी उस जमाने में प्रचलित शिकार के नियमों से ज्ञात हो जाती है। धर्म राज्य का उल्लेख भी मिलता है। गीता में भी ऐसी बात लिखी है। इन सबसे प्रकट है कि गुप्तकाल तक भारतीय समाज की व्यवस्था सामन्तवादी हो चली थी। आर्थिक राजनैतिक आधार पर समाज में वर्ग विभाजन होता था और सामन्तवादी श्रेणियाँ निर्धारित की जाती थीं। यही कारण है कि उस काल में वर्णाश्रम धर्म और आचार को ब्राह्मणवाद का अंग मान लिया गया।

गुप्त वंश का शासनकाल

यह भारत के एकीकरण का भी समय था। आर्यावर्त (उत्तर भारत) और दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) के मिलन से भारतवर्ष बना। 'भारत के इन दोनों खण्डों में सांस्कृतिक एकीकरण का श्रेय ब्राह्मण-साम्राज्यवाद का है। आयंगर ने लिखा है, 'उत्तर भारत में जिन दिनों बौद्ध धर्म का बोलबाला था, उन्हीं दिनों दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद का प्रचार हो रहा था। यद्यपि अन्य दोनों धर्मों की तुलना में इसे कोई विशेष महत्त्व नहीं मिला फिर भी इसके प्रचार प्रसार में कोई कठिनाई नहीं हुई।'[१०]

वर्द्धनकाल एवं तत्पश्चात्

वर्द्धनकाल (६०६ ई०—६४८ ई०) में बौद्ध धर्म को पुनः एक बार उठने का मौका मिला। वर्द्धन वंश वाले वैश्य जाति के थे। हूणों के आक्रमण तथा आन्तरिक षड्यन्त्रों के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद यह वंश उत्तर

भारत का शासक बना। वस्य वस्तुतः पहले कृषि कर्म को शूद्रों के हाथ में छोड़ कर व्यापारी बन गए थे। कालान्तर में धनी वैश्य परिवारों ने उद्योग संघों पर अधिकार करना आरम्भ किया। उनमें से वर्द्धन वंश वाले राजसत्ता तक हथियाने में सफल हो गए। चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है—'सब सत्तात्मकता बड़े पुत्रों से केवल क्षत्रियों के हाथ में रही। कभी-कभी विद्रोह और राजहत्याएँ तक हुई हैं और अन्य जातियों को भी भाग्य लड़ने का अवसर मिला है।'[७]

वर्द्धनों का राज्य स्थापित होने के बाद ही ब्राह्मणों और बौद्धों का उग्र संघर्ष शुरू हो गया। ब्राह्मणवादी शक्तियाँ पश्चिमी बंगाल में राजा शशांक के नेतृत्व में संगठित हुईं और हर्षवर्द्धन की छत्रछाया में संगठित बौद्ध शक्ति को विनष्ट करने के लिए उद्यत हो गईं। जब तक शशांक जीवित रहा, हर्षवर्द्धन की एक न चली। उसकी मृत्यु के बाद ही हर्षवर्द्धन का साम्राज्य विस्तार पा सका। इन दोनों शासकों का संघर्ष वस्तुतः कट्टरता और उदारता की लड़ाई था, जिसमें अन्ततः उदारता की जीत हुई।

वर्द्धन काल के बाद भारत के लिए पुनः अन्ध युग आ रहा था। इस युग में सामन्तवादी सरदारों ने विरोधी सिद्धान्तों की आड़ में एक दूसरे से लड़ाइयाँ लड़ीं। देश उथल-पुथल के गर्भ से बंगाल में पालवंश, राजपूताना में गुर्जर प्रतिहार वंश और दक्षिण में राष्ट्रकूट वंश उदित हुए।

गुप्त वंश के बाद जनता ने एक शूद्र को ही अपना राजा चुना। उसने ब्राह्मण सामन्तों का नाश कर दिया।'[८] उसके बाद पालवंश के संस्थापक गोपाल का उदय हुआ। गोपाल को भी जनता ने चुना था। पालवंश के शासनकाल में बौद्ध धर्म पुनः लोकप्रिय और शक्तिशाली हो गया। जायसवाल लिखते हैं कि गोपाल का चुनाव इस बात का द्योतक है कि बंगालियों ने बहुत पहले—आठवीं सदी में जातिगत श्रेष्ठता के वैदिक सिद्धान्त से अपने को मुक्त कर लिया था। उस एक महान् राजनीतिक कार्य से उन लोगों ने मनु द्वारा निर्मित संस्थाओं को समाप्त कर दिया। यह उन दिनों में बहुत बड़ी बात थी। एक शूद्र को राजा बना देने का अर्थ था कि युग-युग से पोषित मानसिक गुलामी की कड़ियाँ तोड़ दी गई हैं। इस अवसर पर मुक्त-मन गौड़वासियों ने राह दिखलाई और शूद्रों ने भारत के इतिहास में एक उज्ज्वल अध्याय जोड़ा।'[९] पालों का उदय निम्न वर्ग वालों के लिए महत्त्वपूर्ण था। उस वंश का राज इतना जनप्रिय था कि आज भी बंगाल की जनता महिपाल के गुण गाती है। बताया गया है कि बंगाल में आज जो लोग अछूत कहलाते हैं,

वे उन पाल अफसरों और सैनिकों के वंशधर हैं, जिन्होंने ब्राह्मणवाद को कभी स्वीकार नहीं किया।

ब्राह्मणों को फिर से विजय प्राप्त करने का मौका ग्यारहवीं सदी के मध्य में मिला। पश्चिमी भारत के गुर्जर प्रतिहारों का दावा था कि वे क्षत्रिय हैं। किन्तु यह सन्देहप्रस्त है। दक्षिण में उन दिनों राष्ट्रकूटों का बोलबाला था। बंगाल के पालवंश में राष्ट्रकूट घराने की कन्याओं के विवाह हुए। राष्ट्रकूटों को ब्राह्मण चालुक्यों ने मार हटाया। उधर बंगाल में सेनवंश शक्तिशाली हो रहा था। सेनों और चालुक्यों के गठबंधन के बाद पालवंश का राज्य खत्म हो गया। इस प्रकार ब्राह्मण पुनः शक्तिशाली हो गए और मुसलमानों के आक्रमण के समय वे ही हिन्दुओं की शक्ति के सर्वप्रधान प्रतीक थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय राजपूतों के राज्य भी थे। किन्तु ये राजपूत मूल रूप से क्षत्रिय नहीं थे। उनका उदय या तो जनता के बीच से हुआ था, या वे विदेशी थे। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्वीकार करना ही श्रेयस्कर समझा, अन्यथा उनके लिए सत्ता का उपभोग असम्भव था। "राजपूत राज्य विशुद्ध फौजी साम्राज्यवाद था, जिसमें राजपूत शासकों और लोभी ब्राह्मण पुरोहितों ने गठबंधन करके जनता को लूट चूसा और अपने महलों और मन्दिरों को अपार धन से भर लिया। सम्पूर्ण देश में थोड़े ही समय में बड़े-बड़े मन्दिर बन गए। उनके निर्माण में हजारों मजदूरों को, जो कि दास या कैदी थे, खपना पड़ा और बेशुमार धन खर्च हुआ। मन्दिरों के गर्भ-गृह सोना चाँदी और अपार सम्पत्ति से भर दिये गए। पुरोहिताई के भ्रष्टाचार की कोई सीमा नहीं थी। संगीत और बनाव-सजाव के वातावरण में सैकड़ों नर्तकियाँ मन्दिरों को मुखरित करती रहती थीं। उधर राजागण भी अकल्पनीय वैभव और भ्रष्टता में लीन रहते थे। किसी को भी जनता की परवाह नहीं थी। मुसलमानों के हमले के समय भी, जबकि हमलावरों ने बड़े-बड़े शहरों और मन्दिरों का धन लूटना शुरू किया, हम आम लोगों की कोई बात सुनाई नहीं पड़ती। शासकगण धन और औरत के लिए आपस में ही लड़ते रह गए। ब्राह्मण भी अलग अपने मन्दिरों के मोहक वातावरण में तल्लीन थे। इतिहास में ज्ञात है कि मुसलमान सैकड़ों मील की दूरी तय करते चले आते हैं, और राह में कोई उनका विरोध नहीं करता। अधिकारियों को कोई सूचना भी नहीं मिल पाती और आक्रमणकारी नगरों और मन्दिरों में प्रवेश कर जाते हैं। उसी प्रकार वे अपार सम्पत्ति लूटकर निर्विरोध लम्बी दूरी तय करते हुए वापस भी लौट जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है उन दिनों देश में कोई शासन प्रबन्ध था ही नहीं।"[11]

मुसलमानों का हमला (७१२ ई०—१२०० ई०)

मुसलमानों का पहला हमला सिन्ध में ७१२ ई० में हुआ। उस समय से हम हिन्दू समाज के विषय में मुसलमान यात्रियों के लेखों से ही जानकारी प्राप्त होती है। इब्न खुरदाद ६०० ई० ने सात में अनुलोम विवाह, और ब्राह्मण (अर्थात् वे ब्राह्मण जो अपनी कन्या का विवाह क्षत्रिय से नहीं करते थे, पर क्षत्रियों की कन्या को स्वयं ब्याह लेते थे) का वर्णन मिलता है। शूद्रों के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि शूद्र वे लोग थे जो पेशे से किसान थे। ग्यारहवीं सदी में अलबरूनी नामक दूसरा मुसलमान यात्री भारत आया। उसने लिखा है कि राजपूतों (क्षत्रियों) का स्थान ब्राह्मणों से बहुत नीचे नहीं था। परन्तु उसने यह भी लिखा है कि इब्न खुरदाद जैसे अरब यात्रियों ने राजपूतों को जिस अवस्था में पाया था उसमें वे कुछ नीचे गिर गए हैं। काणे का कहना है कि बाद में चलकर ब्राह्मणों के 'म्लेच्छ' शब्द के अन्तर्गत अरब, तुर्क और सब-के-सब मुसलमान आ गए।

जिन दिनों मुसलमान भारत के पश्चिमी हिस्सों में लूटमार कर रहे थे उन्हीं दिनों पूर्वी भाग में बड़ा ही व्यापक परिवर्तन हो रहा था। ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया पहले तो शान्तिपूर्ण प्रचार के जरिए और बाद में विजय के जरिए, अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। सेनवंश के नेतृत्व में ब्राह्मणों ने बंगाल में बौद्ध मतावलम्बी पालवंश को हरा दिया था। पश्चिमी पंजाब के वमनों की भांति ब्राह्मणों के अनेक उपनिवेश पूर्वी हिस्सों में बस रहे थे। ब्राह्मण शासन काल में बौद्ध धर्म का परित्याग और वर्णाश्रम धर्म का अंगीकार करने के सिवा लोगों के लिए कोई चारा नहीं था। यह उनके लिए जीवन रक्षा का प्रश्न था। बंगाल में बौद्धों का इतना निर्मम दमन हुआ कि उनका कोई चिह्न तक नहीं बचा। बौद्ध लोकगाथाओं और लोकोक्तियों तक को ब्राह्मणपरक रूप दे दिया गया।[१११] ब्राह्मणों ने एक नया प्रचार शुरू किया कि कलियुग में चार नहीं, केवल दो वर्ण बचे हैं—ब्राह्मण और शूद्र। इसका तात्पर्य है कि जब क्षत्रियों और वैश्यों की राजशक्ति छिन गई है तो वे शूद्र बना लिए गए। यह बात भी ब्राह्मणों ने किसी पुराण या लोकोक्ति की व्याख्या के रूप में कह डाली है। लेकिन किस धर्मग्रन्थ में यह लिखा है, पता नहीं चलता। वैद्य ने लिखा है 'उपर्युक्त सिद्धान्त का मूल सूत्र हमें कहीं नहीं मिलता। बनारस के कमलाकर भट्ट ने अपने ग्रंथ 'शूद्र कमलाकर' में अवश्य इस अर्थ का एक वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु कमलाकर भट्ट को स्वयं इसकी सचाई

का विश्वास नहीं था, क्योंकि उसने भी 'किसी पुराण में लिखा है'—इस तरह का हवाला दिया है। परन्तु किस पुराण में यह बात आई है? प्रतीत होता है कि यह वाक्य कल्पनाप्रसूत है। इसको उक्त पंडित ने केवल उद्धृत किया है। यह स्वयं उसका लिखा नहीं हो सकता।[११२]

वसु के मतानुसार यह सिद्धान्त १२०० ई० से १६०० ई० के बीच किसी समय प्रतिपादित किया गया। यह मुसलमानों के आक्रमण के समय की सामाजिक स्थिति का द्योतक है। जहां कहीं भी क्षत्रियों और वैश्यों ने राज्य-शक्ति खो दी थी, उनका पूर्ण दमन हो गया। बंगाल में यह दमन पंद्रहवीं सदी में रघुनन्दन के समय में शुरू हुआ। वहां के अछूतों के सम्बन्ध में पंडित हरप्रसाद शास्त्री के मत से हम परिचित हैं। किसी-न किसी प्रकार की उलट पुलट अवश्यम्भावी थी। 'पालवंश के राजाओं के द्वारा प्रचारित महायान पंथ पर चलने वाली बौद्ध जनता के उच्च वर्ग के लोग तांत्रिक पंथ के ब्राह्मणवादी बन गए। बाकी साधारण लोग बौद्ध जन तथा अन्य लोग श्री चैतन्य के वैष्णव पंथी ब्राह्मणवादी हो गए।'[११३] मुसलमानों के आगमन के पूर्व सभी हिन्दू समान थे। किन्तु अशांत वातावरण से लाभ उठाकर ब्राह्मणगण हिन्दू समाज में सर्वप्रमुख बन गए। जो लोग समाज-व्यवस्था के प्रति असन्तुष्ट थे, उनमें से अनेक ने इस्लाम धर्म को अंगीकार किया। मुसलमानों से पराजित होने के बाद शक्तिहीन क्षत्रिय शासकों के लिए ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था स्वीकार कर लेने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। पंडित हरप्रसाद शास्त्री लिखते हैं—

मुसलमान सभी भारतीयों को—वे हिन्दू हों या बौद्ध—हिंदू या भारतीय कहते थे। इसमें लाभ उठाने में ब्राह्मण नहीं चूके। उन्होंने ऐसा दिखलाया, मानो बौद्ध थे ही नहीं। वे इस प्रकार भारतीय अथवा हिन्दू जनसमुदाय में सर्वप्रमुख बन बैठे। असंख्य बौद्ध बिना मालिक के रेवड़ जैसे हो चले। वज्रयानियों सहजियों, नाथपंथियों और कालचक्रयानियों ने कुछ दिनों तक अपना अस्तित्व अलग कायम रखा लेकिन कालान्तर में उनके अनेक अनुयायी या तो ब्राह्मणों से मिल गए, या मुसलमान हो गए। किन्तु ब्राह्मणों ने अपने तंग दायरे में बसे हुए लोगों को लिया, जिन्होंने पूर्णतः उनके पीछे-पीछे चलना स्वीकार किया। ऐसे लोगों को उन्होंने (ब्राह्मणों ने) 'नवशाख' कहा। जिन लोगों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने का प्रयत्न किया वे समाज से बहिष्कृत कर दिए गए। उनको अनाचारणीय जाति अथवा दलित वर्ग कहा गया।"[११४]

हिन्दू समाज ने शकों, कुषाणों और हूणों को पचा लिया था, किन्तु मुसलमानों को नहीं पचा सका। इस्लाम केवल एक विदेशी धर्म ही नहीं था बल्कि

उनकी एक सभ्यता भी थी, जो भारतीय सभ्यता की हर रूप में प्रतिद्वन्द्वी थी। इस्लाम की परम्पराएं भारतीय परम्पराओं के बिलकुल विपरीत थी। हिन्दुओं की पवित्रतामूलक कट्टरवादिता इस्लामी अन्तर्राष्ट्रीयता के मुकाबले में टिक नहीं सकी। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म को आत्मरक्षार्थ जातीय राष्ट्रीयता का सहारा लेना पड़ा। दूसरा कोई रास्ता भी नहीं था। मुसलमानों के साथ किसी प्रकार का भी सम्पर्क वर्जित हो गया। जातीय राष्ट्रीयता के नाम पर राजपूताने में राज्य स्थापित किए गए। दक्षिण में विजयनगर का राज्य कायम हुआ। किन्तु ऐक्य के अभाव में उन्हें सफलता नहीं मिली। हिन्दुओं के दिमाग में बहिष्कार और वर्जना की मनोवृत्ति बड़ी उग्र हो रही थी। सभी प्रकार के बाह्य सम्पर्क को वर्जित कर दिया गया था। यहां तक कि पूरा समाज पथरा गया, गति का कोई चिह्न नहीं रहा। हिन्दू समाज का यही अन्तिम रूप था जो आज भी कायम है। उस समय से हिन्दू जनता की मनोवृत्ति उस पराजित जाति-जैसी है जो हमेशा आत्मरक्षा के लिए और बाह्य प्रभाव से बचने के लिए चिन्तित रहती है।

दसवीं सदी के बाद से हिन्दू समाज के विभिन्न वर्ग पथरा-पथराकर जाति बन गए। उनमें सजातीय विवाह का सिद्धान्त कायम हुआ। फिर जातियों के उपभेदों में भी पारस्परिक अलगाव आने लगा। इस प्रकार पश्चिमी बंगाल के कायस्थ बिहार या उत्तर प्रदेश के कायस्थों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते। दशस्थ ब्राह्मण का विवाह कोकणी ब्राह्मण परिवार में नहीं होता। इस प्रक्रिया का परिणाम यह निकला कि वर्णों के स्थान पर जाति उपजातियों की शृंखला बन गई। वर्ण का सिद्धान्त मात्र रह गया। व्यवहार में जातियां प्रचलित हुईं। इसके बाद संस्कृति तथा राजनीतिक-सामाजिक प्रभावों के आधार पर प्रान्तीय विभेद उठ खड़े हुए। जन्म और वंश की पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। मुस्लिम बहुमत वाले इलाकों में रहने वाले हिन्दुओं पर लोग सन्देह करने लगे। उनके वंश और आचार विचार के प्रति घृणा व्यक्त की गई।

बौद्ध धर्म के पराभव और राजसत्ता पर मुसलमानों के अधिकार के बाद तो ब्राह्मणवाद की ही विजय थी। मुसलमानों से पराजित हो जाने पर हिन्दू राजाओं की मर्यादा बहुत घट गई लेकिन हिन्दुओं का नेतृत्व राजसत्ता के नये स्वामी मुसलमानों के हाथ में जाने के बजाय पूर्णतया ब्राह्मणों के हाथ में चला गया।'[११५]

जैसा कि पहले भी हम देख चुके हैं, ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान का पहला

चिह्न था, नये धर्मशास्त्र पुराणों और दूसरे धार्मिक साहित्य का प्राचीन ऋषि मुनियों द्वारा लिखित बताकर उनको प्रचारित करना। शायद ही कोई संस्कृत रचना है, जिसमें ब्राह्मणों ने कोई फेर-बदल नहीं किया है। यह उनके लिए काफी आसान भी था, क्योंकि संस्कृत इने गिने कुछ चुने चुनाए लोगों की भाषा थी। इस प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों के साथ इतना स्वेच्छाचार हुआ है कि उनकी ऐतिहासिकता में अविश्वास करना साधारण सी बात हो गया है। रमेशचन्द्र दत्त लिखते हैं, 'पुराण, जो कि आज तक प्रचलित है विक्रमादित्य और शिलादित्य के समय में लिखे गए, किन्तु बाद की सदियों में यहां तक कि मुसलमानों की भारत विजय के बाद भी उनमें अत्यधिक परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है यही कारण है कि हमें पुराणों में विभिन्न सम्प्रदायों के झगड़ों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने असंख्य आधुनिक हिन्दू देवताओं में से चुने हुए अपने विशेष देवता की श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा की है बाद के हिन्दू लेखकों ने अपनी रचनाओं की प्राचीनता और मान्यता का धागा पहनाने के लिए प्राचीन नाम से लिखना शुरू किया। इस प्रकार आज के अठारहों पुराण वेदव्यास द्वारा प्रणीत बतलाये जाते हैं।"[१११]

इस युग में ब्राह्मणवाद का क्या रूप था यह जानने के लिए हम ज़रा इस काल के शास्त्रों के आदेशों पर भी विचार करें—(१) जाति विभेद को मानने पर बहुत जोर दिया गया है। ये विभेद पहले की अपेक्षा अत्यधिक कठोर और क्रूर हो गए हैं (२) अन्तर्जातीय विवाह और भोज तथा अन्य प्रकार के अन्तरजातीय सम्पर्क वर्जित किये गए हैं (३) नाना प्रकार के उपयोगी उद्योग धंधों में लगे हुए लोगों को जैसे सुनार, लोहार, धोबी, बुनकर बढ़ई और बनिया आदि को नीची जाति का बताकर उनसे घृणा की जाती है, (४) विभिन्न जातियों के बीच छुआछूत का भेद बरतने पर ज़ोर डालते हैं, (५) कुछ जातियों को अपवित्र करार दिया जाता है, फिर उन्हें म्लेच्छ या चाण्डाल कहकर उनका बहिष्कार किया जाता है (६) मुसलमानों, ईसाइयों, चीनियों, जापानियों तथा दूसरे सभ्य लोगों को अपवित्र कहकर उनका अपमान किया जाता है। कहा जाता है कि उनके सम्पर्क से आदमी अशुद्ध हो जाएगा (७) न केवल अपराध के हेतु मिलने वाला दंड ही, बल्कि परिश्रम का प्रतिदान भी जाति भेद के आधार पर नियमित होना है। 'ब्राह्मण द्वारा चुराया गया धन दूसरे जन्म में काम आता है शूद्र को दिया गया धन नरक में ले जाता है' (८) समुद्र-यात्रा वर्जित है। यह पाप करने वाले को जाति-बहिष्कार का दण्ड मिलता है या बड़ा ही अपमानजनक प्रायश्चित करना

पन्ना ह, (६) अष्ट-म भ्रष्ट रूप म भी मूर्तिपूजा का प्रोत्साहित किया जाता है, (१०) मन्दिरा और उनके आस पास की भूमि को दिव्य स्थल बनाकर कहा जाता है कि वहाँ जाने से ईश्वर प्रसन्न होते हैं।[११७]

इतना ही नही और भी अनेक मूर्खतापूर्ण नियम और अन्य धारणाएँ शास्त्रों द्वारा घोषित और प्रसारित की गइ यथा, 'खाँसी ब्रह्महत्या के लिए मिलने वाला दण्ड है। इसकी दवा यही है कि चार तोले सोने का कमल बनवाइये, फिर मन्त्रोच्चार के साथ होम करके उसे किसी धर्मात्मा ब्राह्मण को दान कर दीजिए।'[११८] जाति के आधार पर ही अपराधी की दवी जाँच करने का नियम था। जैसे, ब्राह्मण के लिए इस प्रकार का नियम था—उसे तराजू पर तोला जाए फिर कुछ धार्मिक विधियाँ पूरी करने के बाद उसे फिर से तोला जाए। यदि वह पहली बार स हल्का हो जाता है तो उसका कथन सत्य माना जाएगा। यदि वह पहले से भारी हो जाता है, या उतना भारी ही रहता है, तो वह झूठा माना जाएगा।'[११९] क्षत्रिय के लिए—वह पूर्वाभिमुख होकर नाभि-पर्यन्त जल म प्रवेश कर। फिर पास ही खड़ा एक दूसरा आदमी १०६ अगुल चौड़ाई वाले धनुष से सरकडे का बाण जिसकी नोक पर लोहे का फल नहीं लगा हुआ है चलाये। बाण छोड़ते समय जल म खड़ा व्यक्ति डुबकी लगाये। नदी के उस पार एक और आदमी, बाण को वापस लाने के लिए दौड़े। यदि डुबकी लगाने वाला आदमी बाण के छोड़ जाने और वापस लाने तक पानी के भीतर ही डूबा रह जाता है, तो उसे निरपराध समझना चाहिए।'[१२०] शूद्र के लिए—उसको इस प्रकार से जहर दिया जाए—विष को उसके परिमाण स ३० गुणा अधिक घी म मिला दिया जाए और मन्त्र पढ़कर अभियुक्त को खिलाया जाए। अभियुक्त दक्षिणाभिमुख रहे और विष देने वाले का मुँह पूर्व या उत्तर की ओर। तत्पश्चात् श्रोतागण ५०० बार ताली बजाएँ। इस बीच विष खाने वाले को कुछ नहीं होता तो वह दोषमुक्त समझा जाएगा और उस विष का असर दूर करने वाली दवा दी जाएगी।[१२१] ये सब वर्णन आलिम ग्लैडविन द्वारा अनूदित 'आईन अकबरी' म हैं। इस प्रकार की प्रथाएँ अकबर के जमाने म प्रचलित थी।

अपने नये शास्त्रों के आधार पर ब्राह्मणों ने अपने को भूदेव (पृथ्वी पर के देवता) और भूपति (पृथ्वी के स्वामी) कहा। उनका दावा था कि राजा और प्रजा, दोनों उनकी पूजा करें। उन्होंने जमीन पर अपने स्वत्व अधिकार का दावा किया। मालाबार म तो यह सवमान्य सिद्धान्त बन गया कि जमीन का

स्वामित्व केवल ब्राह्मणो के हाथ मे रहेगा। दूसरे लोग उनसे ही ज़मीन बन्दोबस्त लेंगे।

जाति-व्यवस्था मे मंदिर का विशिष्ट स्थान था। वह आज भी है। पुरोहितो और मंदिरो के कारण जन समाज के बहुसंख्यक लोगो के अधिकार छिन गए। मंदिर वास्तव मे केवल धार्मिक संस्था नही था। इसके कई प्रकार के उपयोग थे। वह गाव के प्रशासन का केन्द्र था तथा जाति-व्यवस्था के नियमों के सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय के रूप मे प्रतिष्ठित था। वहा जिन लोगो को जैसे अधिकार प्राप्त थे उसके आधार पर ही उन लोगो की जाति और श्रेणी निर्धारित की जाती थी। ब्राह्मणो को ही इष्ट देवता तक जाने और मूर्ति की पूजा करने का हक था। उनके बाद वैसे लोगो का स्थान था, जो मन्दिर के अन्तरग के प्रवेश-द्वार पर खड़े हो सकते थे। उन्हें भीतर जाने का अधिकार नही था। तीसरी श्रेणी मे वे लोग थे, जिन्हे केवल मन्दिर के अहाते मे जाने दिया जाता था। उन्हे मन्दिर के मुख्य भवन म जाने की अनुमति नही थी। चौथी श्रेणी अछूतो की थी, जिन्हें मन्दिर से निश्चित दूरी पर रहने का आदेश था। कुछ अछूतो को तो मन्दिर वाली गली से भी गुजरने की इजाजत नही थी।

मन्दिर म जाति-सम्बन्धी झगडो की सुनवाई भी होती थी। दैवी तरीका से अभियुक्त की जाच की जाती थी, और अपराधी को जुर्माना किया जाता था। वहाँ चुनाव भी होता था। यानी वहा जातीय जीवन के सभी महत्वपूर्ण काम होते थे। गाव की पाठशाला भी वही चलती थी। "बड़े-बड़े शहरों में तो मन्दिर सरकारी खजाने का भी काम देता था।' [१२२] इस प्रकार मन्दिर का पुजारी राजस्व पर नियन्त्रण भी रखता था। इसलिए ब्राह्मणो के हेतु मन्दिर की नौकरी सबसे लाभदायक थी। किन्तु राजाओ न कुछ दूसरे ही मतलब स मन्दिर का समर्थन किया। राज्य को मदिरो से काफी आमदनी होती थी। उनके जरिये जनता से भी धन वसूल जाते थे। 'मूर्ति-पूजा का जन-समाज पर कोई उन्नायक प्रभाव या भी नही पडता था। पर भारत म तो इसके साथ भय और खराबियाँ जुडी हुई थी। मनु के काल तक वन्य तथा साधारण जन अपने अपने तरीके स अपने इष्ट देव की उपासना कर सकते थे और घर म ही पूजा एव अर्घ्य निवेदन करते थे। किन्तु जब पूजा का स्थान घर से हटकर मन्दिर म आ गया तो मंदिर के अभिभावक के रूप म पुरोहित अथवा पुजारियों का भी असर लोगो के दिमाग पर निश्चित रूप से पडने लगा। उन्होने लोगों के गले म गुलामी का एक और तौक डाल दिया। आडम्बरपूर्ण

उत्सवो तथा विपुल सजावट के कारण जनता पर उसका बेहद प्रभाव पडा और अनेकानेक अन्य धारणाओ की सष्टि हुई। काव्य कलाकौशल मूर्तिकला वास्तुकला एव सगीत से भी इस काम म सहायता मिली। इस प्रकार कुछ ही सदियो मे राष्ट्रीय धन का अधिकाश मन्दिरो की शानदार इमारतो और उत्सवो पर उलीचा गया। यह सब जनता की अशेष श्रद्धा एव विश्वास की बाह्य अभिव्यक्ति थी।

पहले तीर्थ-यात्रा का नाम भी लोग अच्छी तरह नही जानते थे किन्तु अब बडे पमाने पर तीर्थयात्राओ का आयोजन किया गया। मन्दिरो को जमीन और धन दान म मिले। इस तरह से धम का अथ हो गया देव मूर्तियो और उनके पुरोहितो की अन्ध भक्ति। भारत के बडे-बडे शहरो म कितने ही मन्दिर बने हैं अनेक नई मूर्तियाँ और अनेक नये देवता मन्दिरो और अन्य भक्तो के हृदय म स्थापित हो गए।[१२३] ऐसे ही करत धरते ब्राह्मण जाति हिन्दू समाज म सबसे ज्यादा प्रभावशाली हो गई। सामाजिक राजनीतिक सस्था क रूप म मन्दिरो का नियन्त्रण समाज पर पूर्ण रूप से स्थापित हो गया और समाज के बहुसख्यक लोगो की इच्छा आकाक्षाओ को बरहमी स कुचल दिया गया। तभी से ब्राह्मणो की छत्र-छाया म उनकी कृपा प्राप्ति के लिए आगे बढने की प्रतियोगिता और साम्प्रदायिक सकीर्णता शुरू हुई।

हम देखते हैं कि हिन्दू समाज का इतिहास जनजातीय सस्थाओ से शुरू हुआ और मुसलमानो के शासन काल म उसम स्थान भेद के साथ सामाजिक भेद भाव भी उठ खडे हुए। समाज का जीवन अनेक स्वतन्त्र जातियो उप जातियो म बँट गया। यह विभाजन खडी सीध और पडी सीध दोनो रूप म हुआ। बहुधा पडी सीध म ऊपर उठने का अथ था व्यक्ति के सामाजिक एव जातीय स्तर म उत्थान। यह सिलसिला पूरे मुस्लिम काल तक चला। यद्यपि सिख आन्दोलन एव लिंगायत आन्दोलन के रूप म इस व्यवस्था क विरुद्ध विद्रोह भी हुए किन्तु सामान्यत कोई भी परिवतन नही हुआ। विद्रोहो को राजनीतिक अथवा बौद्धिक रूप स कुचल भी दिया गया।

ब्रिटिश काल

ब्रिटिश शासन काल म ब्राह्मणवाद का गढ और भी मजबूत हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी सस्था थी। उसका एकमात्र उद्देश्य मुनाफा करना था। उसके लिए भारत एक जमीन्दारी जसा था जिसका प्रबन्ध कम्पनी क साझेदारो के हित की दृष्टि स करता था। उसकी दिलचस्पी सालाना

आमदनी की रकम में थी, न कि न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था के सिद्धान्तों और नीतियों में। इसलिए स्वभावतः कम्पनी ने देश के प्रमुख लोगों का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश की। ऐसे लोगों में मुख्यतः ब्राह्मण ही थे। कम्पनी को मुसलमानों का भरोसा नहीं था, क्योंकि उसने उनके हाथों से ही सत्ता छीनी थी। एब डुब्वाय ने १८१६ ई० में इस प्रकार लिखा है— 'ब्राह्मणों ने भी भारत के सम्प्रति शक्तिशाली यूरोपीय शासकों की कृपा प्राप्त करने में बड़ी होशियारी दिखलाई है। उन्हें विभिन्न सरकारी संस्थाओं, दफ्तरों और जिलों के न्यायालयों में उच्चतम पद प्राप्त हैं जहाँ उन्हें धन भी सबसे ज्यादा मिलते हैं। दरअसल, सार्वजनिक शासन प्रबन्ध का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ वे अनिवार्य न हो गए हों।'[१२४]

सम्पन्न मन्दिरों के प्रबन्ध में कम्पनी के मुलाजिमों और ब्राह्मणों के बीच घनिष्ठ सहयोग था। हम पहले देख चुके हैं कि मुसलमानों के शासनकाल के प्रारम्भ से ही ये मन्दिर किस प्रकार ब्राह्मणवाद और इसलिए जातिवाद के प्रतीक हो चले थे। विदेशी मुसलमान शासकों के अधीन रहकर सत्ता के लिए वर्ग-संघर्ष चलाना सम्भव नहीं था। इसी कारण मन्दिरवाद का आविष्कार हुआ। मुसलमान शासकों ने भी आर्थिक आय के विचार से मन्दिरों का समर्थन किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी वैसा ही किया। यदि इस आमदनी का भरोसा नहीं रहता तो ये मन्दिर कब के न गिरा दिए गए होते। सन् १८०३ ई० में पुरी के जगन्नाथ मन्दिर से कम्पनी को १,३५,००० रुपये की आमदनी हुई। याया कर से बोध गया से भी दो-तीन लाख रुपये आये। तिरुपति, काशीपुर, सरकार और सम्बल आदि तीर्थस्थानों से लगभग ११,३४,००० रुपये वसूल गए। इस नीति से ब्राह्मणवाद को यथेष्ट बल मिला।[१२५] उस युग के अनेक सुधारवादी आन्दोलन असफल हो गए क्योंकि ब्राह्मणों को राज्य का बल प्राप्त था। सरकार ने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया और बड़ी-बड़ी धनराशि अनुदान में दी। मद्रास प्रेसीडेन्सी को ८,७६,७८० रुपये का वार्षिक अनुदान मिला, बम्बई प्रेसीडेन्सी के २६,५८६ मन्दिरों और मूर्तियों को ६,९४,५६३ रुपये मिले। कम्पनी की पूरी जागीरदारी में मूर्ति-पूजा पर १७,१५,५८६) रुपये प्रतिवर्ष खर्च किए जाते थे।

इसका एक ही अवश्यम्भावी परिणाम था। इससे जाति-व्यवस्था को अतीव बल प्राप्त हुआ और जाति-व्यवस्था के आधार पर ही ब्राह्मणों का सामाजिक और धार्मिक प्रभुत्व स्थिर हुआ था। कम्पनी का भी हिन्दू जाति का दमन करने से जाति-व्यवस्था के रूप में एक सुनीन्द्र मार्ग प्राप्त था, क्योंकि हिन्दुओं

में जाति बहिष्कार मृत्यु-दण्ड से भी अधिक भयप्रद था। सन् १७६७ ई० में कम्पनी ने जातीय कचहरियाँ स्थापित कीं और इन कचहरियों को हिन्दुओं के सामाजिक और पारिवारिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया। हिन्दू लोग जातीय कचहरियों से अत्यन्त आतंकित रहते थे क्योंकि उनके विपरीत निर्णय का अर्थ था सामाजिक मृत्यु। बर्क ने वारेन हेस्टिंग्स के विरुद्ध अपने सुप्रसिद्ध आरोपों को उपस्थित करने के प्रसंग में इन जातीय कचहरियों का भी ज़िक्र किया है। उसने कहा : उसने अपने नौकर को धार्मिक अधिकार क्षेत्र में सर्वोच्च पद पर ला बिठाया है। इस अधिकार क्षेत्र में सभी जातियों के सुख-दुःख, पारिवारिक और सामाजिक मान प्रतिष्ठा तथा परलोक के मुक्ति पथ से सम्बन्धित सभी प्रश्न आ जाते हैं।[१३८] न्यायाधीशों और वकीलों को ब्राह्मणवादी नियम की जानकारी कराने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने ब्राह्मण विद्वानों की मदद से संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर उन नियमों की एक संहिता प्रस्तुत कराई और उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद कर लिया गया। जाति को सुस्पष्ट आर्थिक और राजनैतिक महत्त्व प्रदान किया गया। जनान्दोलन के कारण आगे चलकर विभिन्न जातियों में सरकारी संरक्षण का विभाजन कर दिया गया तथा स्कूलों-कालेजों में, चुनाव क्षेत्रों में तथा वैधानिक सुधारों में विभिन्न जातियों के अधिकारों और मतों को भी स्थान मिलने लगा।

जाति-व्यवस्था को मिटाने में समाज-सुधारक-गण सर्वथा असमर्थ रहे। जाति क्या है, विभिन्न सामाजिक समूहों की स्थिति और अधिकार क्या हैं, इन बातों का निर्णय करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। हस्तक्षेप न करने की सरकारी नीति का वास्तविक अर्थ था यथास्थितित्व का समर्थन। यह ठीक है कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। शायद अब इसकी ज़रूरत भी नहीं थी। सम्पूर्ण देश में ब्राह्मणवाद की जड़ जम गई थी। दक्षिण भारत में तो इसका प्रभाव पहले ही से था। ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था अर्थात् जाति-व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के बाद सभी सम्प्रदायों को तरह-तरह की सहूलियतें और आज़ादी मिल जाती थीं। हिन्दू धर्म के वर्तमान नेताओं ने हिन्दू धर्म की समुच्चय वृत्ति की प्रशंसा की है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का मत है कि 'हिन्दू धर्म किसी प्रजातीय तत्त्व पर आधारित नहीं है। यह विचार और आकांक्षाओं का पित्रागत उत्तराधिकार है, जिसमें भारत में रहने वाली सभी प्रजातियों ने योगदान दिया है। वर्तमान हिन्दू धर्म के बहुत-से लक्षण आदिकाल से प्राप्त हैं। वेदों में वर्णों का धर्म

वर्णित है। परन्तु जन-समाज अपने परम्परागत देवताओं, यक्षों और नागों की उपासना करता रहा। वदिक कटटरवादिता तथा प्रतीकवाद की ओट मे अनेकानेक विश्वासो धार्मिक सम्प्रदायो तथा आदिम प्रजातीय तत्त्वो का व्यापक प्रचार था। वदिक धम म उन तमाम आदिम युगीन धार्मिक सम्प्रदायो के तत्त्व सन्निहित हैं। उन तत्त्वो को नष्ट करने के बदले वदिक धम ने उन्हें ग्रहण कर लिया। वदिक धम म द्राविडो तथा भारत के अन्य आदिम निवासियो के सामाजिक जीवन का इतना कुछ तत्त्व मिल गया है कि आज मौलिक आय तत्त्वो को विलग करना कठिन है। सब-कुछ इतना संश्लिष्ट सूक्ष्म और चिरन्तन हो गया है कि उनके आधार पर एक विशिष्ट हिन्दू सभ्यता विकसित हो गई है जिसे न तो हम आय सभ्यता कह सकते हैं न द्राविड सभ्यता और न आदिवासी सभ्यता। चिरकाल से एकता का स्वप्न हमारे नेतागण देखते रहे हैं और उस स्वप्न की छाया सम्पूर्ण परिपाश्व पर मँडराती रही है इस्लाम और ईसाई धम ने समय समय पर हिन्दू धम म युयुत्सु प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करने की चेष्टा की है फिर भी हिन्दू धम की मौलिक प्रवृत्ति समन्वय और सहिष्णुता की है। इस उदार दृष्टिकोण के कारण हिन्दू धम सभी प्रकार की धार्मिक आकाक्षाओ और चेष्टाओ का वण-पटल बन गया है।'[१२६]

हिन्दू धम का यह समथन भ्रान्तिमूलक है। इतिहास इसकी पुष्टि नही करता। आदिम धारणाओ की स्वीकृति सहिष्णुता और उदारता का लक्षण नही है, यह दुबलता का लक्षण है। प्रत्येक युग की अपनी विचार-सम्पदा होती है जो पहले युग की विचार-सम्पदा का स्थान ग्रहण कर लेती है। आदिमकालीन धारणाओ से चिपके रहने के कारण चतुर्दिक अधःपतन का सिलसिला शुरू हो जाता है। यह सोचना भ्रम है कि उन सबम कुछ सत्य है। उसी तरह यह कहना भी गलत है कि हिन्दू धम मे कोई रूढि नही। हिन्दू जीवन मे ऐसी एक भी बात नही जो रूढियो या रीति रिवाजो से नियन्त्रित नही होती। हिन्दुओ ने इस्लाम और ईसाई धम के पगम्बरो की पूजा स्वीकार की है। यह उदारतावश नही बल्कि कमजोरी के कारण। इतिहास बतलाता है कि हिन्दू धम ने कभी भी विभिन्न समूहो और सम्प्रदायो को शान्तिपूवक एक साथ रहने की प्रेरणा नही दी। हिन्दू धम ने इस उद्देश्य से इन समूहो और सम्प्रदायो को स्वीकार नही किया। इस धम के दायरे म तरह-तरह के दल और धार्मिक सम्प्रदाय यदि शामिल हो गए हैं तो इसका कारण है प्रजातीय स्थान-परिवतन युद्ध और व्यवसाय की तलाश। जाति-व्यवस्था म इस प्रकार

की उदारता का सर्वथा अभाव है। यदि इसमें सचमुच उदारता होती तो न तो कभी शूद्रों का दमन होता न छुआछूत की बात उठती और न जन्म के आधार पर जाति-व्यवस्था बन पाती। उसी प्रकार स्मृतियाँ भी वैदिक धर्म का उल्लंघन करने वाले शूद्रों के लिए प्राण-दण्ड का विधान नहीं करतीं?'[११]

हिन्दू धर्म को पुरोहित वर्ग ने कायम कर रखा है। इसलिए न तो आधि-भौतिक विषयों पर यथार्थवादी दृष्टि से विचार करने की पद्धति बन पाई और न उस प्रकार की समाज-व्यवस्था बन सकी। जिस वर्ग ने नक्षत्रों, मृत व्यक्तियों, भूत प्रेतों तथा इस तरह की अनेकानेक भ्रांतियों के आधार पर अपनी सत्ता कायम रखी, उसने अपनी स्वार्थ रक्षा के निमित्त ही ऐसी अन्ध धारणाओं का परिपोषण किया।

जिस समाज में उत्पादक वर्ग पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व समाप्त करने में असमर्थ रहता है उस समाज में किसी प्रकार का नया विचार कारगर नहीं हो पाता। पुरोहितों का प्रभाव मिटने पर ही विज्ञान और दर्शन का विकास होता है। यूरोप में बहुत दिनों तक रोमन साम्राज्य के कारण ईसाई धर्म का बोलबाला रहा। अरब में व्यवसायियों और सैनिकों के अभ्युदय के कारण इस्लाम धर्म उठ खड़ा हुआ। भारत में भी अब्राह्मण वर्गों ने ही बौद्ध धर्म जैसा सार्वदेशिक धर्म प्रचारित किया। यह ठीक है कि जब मानव-समाज बर्बर युग की देहली पारकर बाहर आया तब पुरोहितों के वर्ग ने प्रगतिशील भूमिका अदा की। परन्तु उसके बाद से यह वर्ग सर्वदा प्रगति का पथ अवरुद्ध करता रहा। भारत के इतिहास में यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। सामाजिक परिपार्श्व दर्शन और आन्दोलन के अभाव में हिन्दू धर्म तथा इसकी विचित्र सामाजिक संस्थाओं का इतना उलझा रूप बन गया है।

जैसे-जैसे जाति-व्यवस्था की जड़ जमती गई है वैसे-वैसे हिन्दू समाज में निम्न श्रेणी के लोग जाति के विषय में सचेष्ट होते गए हैं और ब्राह्मणवादी नियमों को मानकर हिन्दू समाज में प्रवेश पाने या ऊपर उठने का प्रयास किया है। चूंकि ऊँची जाति के लोग ब्राह्मणवादी नियमों का पालन करते हैं इसलिए छोटी जाति के लोग भी इनका पालन उचित समझते हैं।'[१३१] इसलिए जो जाति सामाजिक सोपान पर ऊँचे उठना चाहती है वह उतनी ही मुस्तैदी से धार्मिक कट्टरता का पालन करती है।

आज के भारत में हम यह प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि जिन जातियों में कभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं थे, वे जातियाँ भी अपने ब्राह्मण पुरोहित नियुक्त कर रही हैं और ब्राह्मण कट्टरवादिता से सम्बन्धित सभी त्योहारों, भोजों और

प्रथा को अंगीकार कर रही हैं। आदिवासियों में भी जो हिन्दू होना चाहते हैं वे अपने सामाजिक निषेधों को तो कायम रखते हैं किन्तु अपने सम्बन्ध सूचक चिह्न को छोड़ रहे हैं और उनके स्थान पर हिन्दू देवताओं को स्वीकार कर रहे हैं। शुरू में वे किसी धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में पिछले दरवाजे से हिन्दू समाज में प्रवेश करते हैं। आगे चलकर आर्थिक स्थिति के अनुरूप अपनी एक अलग जाति बना लेते हैं। तत्पश्चात् वे ब्राह्मणों को खूब दान-दक्षिणा देते हैं जो उनकी जाति के लिए धर्मग्रन्थों के आधार पर अच्छी-खासी प्राचीन मूलोत्पत्ति ढूंढ निकालते हैं। हिन्दू समाज में आज इसी प्रकार का विकास हो रहा है।"[१३२] जाति-व्यवस्था के विरुद्ध कभी कोई आन्दोलन नहीं चला। इक्के-दुक्के व्यक्तियों और समूहों ने निश्चय ही आवाज उठाई है, परन्तु कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सका है।

इस प्रकार नास्तिकता सामाजिक वर्गों की वाह्याभिव्यक्ति है। इस संघर्ष के विषय में एंगेल्स ने लिखा है "इतिहास की गतिचालना के नियम जिसके अनुसार राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक या आदर्शमूलक सभी ऐतिहासिक संघर्ष घटा करते हैं, वस्तुतः विभिन्न सामाजिक वर्गों के संघर्ष की अभिव्यक्ति है।"[१३३]

अध्याय ५

हिन्दू धर्म और दर्शन

किसी भी सामाजिक संस्था को अच्छी तरह समझने के लिए उसके दार्श
आधार की जानकारी आवश्यक होती है । जाति-व्यवस्था को भी सही अर्थो
समझने के लिए हिन्दू धर्म और दर्शन का विश्लेषण उपयोगी प्रतीत होता है
हिन्दू धर्म की ठीक-ठीक परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इस विषय पर नित
ही परस्पर विरोधी मत मिलते हैं । फिर भी एक सर्वसामान्य दृष्टिकोण है कि
हिन्दू धर्म समाज व्यवस्था के स्थायित्व की रक्षा करने वाली विधियों की एक
संहिता है । यही कारण है कि इस धर्म में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जैसे सिद्धान्तों को
प्राथमिक महत्त्व दिया जाता है । कुछ विचारक इस प्रकार के तर्कों का विस्तार
करते हुए कहते हैं कि ईश्वर की कल्पना तथा परलोक पुनर्जन्म देवता आदि
की धारणा मूलतः प्रतीकात्मक है और इनकी अवतारणा इसलिए हुई है कि
जन साधारण विधियों और सामाजिक नियमों का पालन करें । दूसरे विचारक
ऐसे भी हैं जिनका विश्वास है कि हिन्दू धर्म इहलोक और परलोक में सुख
शान्ति प्राप्त करने का मार्ग बतलाता है । श्रुति स्मृति और पुराण चारों पुरुषार्थ
और चारों वर्णों के सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं और बतलाते हैं कि अपने
वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है ।

एक तीसरा भी मत है कि हिन्दू धर्म शत प्रतिशत आध्यात्मिक धर्म है ।
शैव वैष्णव और वेदान्ती सभी इस मत की पुष्टि करते हैं । उनका कहना है
कि जीव मोक्ष मार्ग का तीर्थयात्री है । उसके लिए यह भौतिक जीवन एक
पड़ाव मात्र है । आत्म रक्षा समाज रक्षा धन तृष्णा आदि तमाम बातें निरर्थक
मायाजाल हैं ।

ये सब मत विवादास्पद हैं । हिन्दू धर्म से सामाजिक स्थायित्व और सुव्यवस्था
को बल मिला यह बात भी मानने योग्य नहीं । इस अर्थ में हिन्दुओं ने धर्म
को कभी स्वीकार भी नहीं किया । कुछेक अपवादों को छोड़कर हिन्दू धर्म के
भी आचार्यों ने हमेशा परस्पर विरोधी विचारों का प्रचार किया । इसका
ाण वैदिक विधियों में आत्मा ब्रह्म मुक्ति और अमरत्व-सम्बन्धी उपनिषदों

की परिकल्पनाओं में, स्मृतियों के वर्णाश्रम धर्म में, पुराणों की प्रार्थना, तीर्थयात्रा तथा अन्य धार्मिक नियमों में बड़ी आसानी से मिल जाएगा। वेदों में धर्म का सर्वथा भौतिकवादी रूप मिलता है। उनमें भौतिक सुख के लिए, शक्ति के लिए, वर्षा के लिए, सुन्दर स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। उपास्यदेव भी भौतिक शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। ठीक इसके विपरीत वेदान्त का धर्म मूलतः आध्यात्मिक है।

भौतिक पदार्थों का महत्त्व स्वीकार करनेवाला धर्म, पिछड़े हुए सामाजिक संगठन का सूचक होता है। ऐसे धर्म को स्वीकार करनेवाले लोग विश्वास करते हैं कि मनुष्य के दैनंदिन जीवन-व्यापार में भी देवताओं का हाथ रहता है और उन देवताओं की प्रसन्नता से अभीप्सित फल की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा उनके कोप से जीवन विपद-संकुल और कष्टकर हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकार का विश्वास भौतिक घटनाओं के कार्य कारण भेद को न जानने से ही उत्पन्न होता है। ऐसे अज्ञान धूमिल व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। हिन्दू धर्म के अधिकांश ग्रन्थ ऐसे ही लोगों ने लिखे हैं जिन्हें दैवी शक्तियों में अन्धविश्वास था अथवा जिन्हें समाज के प्रभावशाली वर्गों से प्रेरणा मिलती थी। वैदिक धर्म का प्रभाव क्षीण होने पर विभिन्न प्रकार के मत प्रतिपादित किये गए, जिनमें उपनिषदों का प्रभाव विशेष रूप से क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। यही कारण है कि अनेक लोग हिन्दू धर्म को सर्वथा आध्यात्मिक मानते हैं। इन सब परस्पर विरोधी विचारों से भारतीय समाज का अधःपतन हुआ। वेद, पुराण और स्मृतियों ने भारतवासियों को धर्मशास्त्रों का अन्धविश्वासग्रस्त उपासक बना दिया। उन लोगों ने पूर्ण आस्था के साथ वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया और ऐसा मानने लगे कि कोई भी व्यक्ति उच्च श्रेणी का हो या निम्न श्रेणी का, यदि वह अपने धर्म का पालन करता हो तो निश्चय ही मुक्ति-लाभ करेगा। भारतीय दर्शन ने भी बड़ी सफ़ाई से दुनिया के कठोर सत्य पर अध्यात्म की चादर डाल दी है। इसी खासे आधार पर मायावाद का वितंडा खड़ा किया गया, जिसकी ओट में लाखों-करोड़ों दैन्य-पीड़ित भारतीय जनता का अश्रुसिक्त चेहरा छिप गया। यह संसार माया है, हम आज जो कुछ हैं और जिस दशा में हैं, वह सब हमारे पूर्व-जन्म के कर्मों का फल है, और उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना नहीं। इसलिए उसे बदलने की चेष्टा ही क्यों की जाए? क्यों न अपने को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया जाए? पुनश्च, जब भू-देव ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष लाभ किया जा सकता है तब फिर इहलोक की स्थिति में परिवर्तन लाने की

आवश्यकता ही क्या ?

हिन्दू धर्म में नाना प्रकार के धार्मिक रूपों और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। इसके दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। एक तो यह कि सामाजिक जीवन में तरह-तरह की प्रथाएँ और नियम हैं, दूसरे तरह-तरह के असंगतिपूर्ण परस्पर विरोधी अध्यात्मवादी सम्प्रदाय चालू हैं। प्रत्येक धर्म के मूल में कोई न-कोई समाज व्यवस्था होती है। हिन्दू धर्म का यह पहलू बिलकुल स्पष्ट है जैसे—चातुर्वर्ण्य जाति-व्यवस्था, विवाह-सम्बन्धी विधियाँ, पारिवारिक या जाति जीवन के मानदण्ड तथा संयुक्त परिवार प्रणाली आदि आदि। इस प्रकार हिन्दू धर्म एक विशिष्ट सामाजिक संगठन से सम्बन्धित विधि विधानों का प्रतिरूप है। हजारों वर्षों से लोग मानते आ रहे हैं कि यह धर्म जाति-व्यवस्था पर आधारित है। जो हिन्दू अपनी जाति के नियमों का पालन करता है वही वास्तव में हिन्दू है। सभी धर्म-ग्रन्थों ने समाज-व्यवस्था की हिमायत में पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्त का उपयोग किया है। हिन्दुत्व का धार्मिक पक्ष सामाजिक प्रथाओं और नियमों को केवल भौतिक महत्त्व ही नहीं देता बल्कि उनका आध्यात्मिक मूल्य भी बतलाता है। इस तरह से सभी सामाजिक नियमों का कोई-न-कोई धार्मिक अभिप्राय बतलाया गया है।

सभी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का एक दार्शनिक आधार रहता है। दर्शन विज्ञानपरक भी हो सकता है और धर्मपरक भी। यह सब सामाजिक चिन्ता धारा पर निर्भर करता है। प्राचीन-काल के सामाजिक आन्दोलनों पर धर्म का विशेष प्रभाव रहता था। धर्म भी कितने प्रकार के थे—स्वाभाविक प्रकृति पूजा बहुदेववाद एकेश्वरवाद ईश्वरीय सर्वसत्तावाद अथवा शाक्तवाद। उन दिनों सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विकास धार्मिक माध्यम से ही सम्भव था जोकि आधुनिक काल में सम्भव नहीं दीखता। शोचनीय बात है कि आज के बहुतेरे शिक्षित भारतीय नहीं जानते कि सामाजिक और राजनीतिक उथल पुथल पर विज्ञान और दर्शन का कितना असर रहता है। सामाजिक गतिशीलता जब तक स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो जाती तब तक दर्शन हवाई किले जैसा लगता है। यह याद रखने की बात है कि क्रान्ति का प्रभाव मानव जीवन के सभी अंगों पर पड़ता है। आजकल की सामाजिक क्रान्तियाँ हमारे आध्यात्मिक और नैतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य के मन पर धार्मिक और आधिदैविक विश्वासों का सर्वाधिक प्रभाव रहता था। उन दिनों लोग विश्वास पर ही जीते थे। स्वभावतः वैसे जमाने में लोगों के धार्मिक विश्वासों विचारों और संस्थाओं में परिवर्तन लाने के लिए

धार्मिक आन्दोलन के रूप में ही क्रांति का सूत्रपात होता था, अर्थात् दुनिया के सभी धर्म महान् क्रांतियों के परिचायक हैं। बौद्ध धर्म एक प्रकार की महान् क्रांति थी। इसी प्रकार ईसाई और इस्लाम धर्म भी। इन सभी क्रांतियों के मूल में प्रारम्भिक प्रकृति-पूजा और पुरोहितों के विरुद्ध विद्रोह की भावना थी।

वैदिक युग का ब्राह्मणवाद एक प्रकार की प्रारम्भिक प्रकृति-पूजा थी, जिसके विरुद्ध लगातार विद्रोह होते रहे। उनमें बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख हैं। इसलिए प्राचीन भारतीय समाज की धार्मिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है। धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों का स्वरूप स्थिर होते होते पूरा युग बीत जाता है, जिसे हम सामाजिक परिवर्तन का काल कह सकते हैं। भौतिक और सामाजिक जीवन में क्रमशः परिवर्तन होते रहते हैं और तदनुसार लोगों के आदर्शों में भी परिवर्तन होते हैं। यदि कोई धार्मिक विश्वास खंडित हो गया तो इसका अर्थ है कि जिस सामाजिक व्यवस्था की नींव पर वह विश्वास टिका हुआ था वह व्यवस्था ही विघटित हो गई। मनुष्यों का जैसा-कुछ आपसी सम्बन्ध रहता है, वैसा ही कुछ सम्बन्ध मनुष्य और ईश्वर के बीच अथवा मनुष्य और देवताओं के बीच स्थापित हो जाता है। वेदों की प्रकृति-पूजा दरअसल तरह-तरह की प्राकृतिक शक्तियों की उपासना है। एकेश्वरवाद केन्द्रीभूत राजसत्ता से मिलता जुलता है। आदिम प्रजातन्त्र में ही तरह-तरह के देवी-देवताओं की पूजा सम्भव थी। वे देवी-देवता वस्तुतः शक्तिशाली, आदर्श व्यक्तियों के समान थे। उसके बाद जिस प्रकार जन-जातीय स्वतन्त्रता के भग्नावशेष पर राजतन्त्र की इमारत खड़ी होती है, उसी प्रकार प्रकृति पूजा और बहुदेववाद के पश्चात् एकेश्वरवाद का उदय होता है। इन सब बातों को सामाजिक आवश्यकताओं की रोशनी में ही समझना चाहिए। धर्म के स्वरूप में क्रमिक विकास हुआ करता है, जैसे बहुदेववाद के बाद एकेश्वरवाद। ये सब सामाजिक सक्रान्ति के परिणाम हैं। प्रगतिशील शक्तियों के अनुरूप ही क्रांतियाँ होती हैं। बहुदेववाद का सर्वथा अन्त हो जाने पर एकेश्वरवाद की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप तमाम सामाजिक सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगे। पुराने और नये जमाने के बीच एक प्रकार का समझौता हुआ, और उसके नतीजे में लोगों ने बहुदेववाद को छोड़कर सर्वशक्तिसम्पन्न एक ईश्वर की उपासना शुरू की। इसका अर्थ है कि सामाजिक संगठन पूरा-पूरा मिट नहीं सका था प्रगतिशील शक्तियाँ इतनी पुष्ट नहीं हो पाई थीं कि वे प्राचीन गलित व्यवस्था को उखाड़ फेंकतीं।

प्राचीन भारत में लोग बहुधा समझौते का रास्ता अपनाते थे। वेदान्त

के एकेश्वरवाद ने वदिक विश्वासों का सवथा उन्मूलन नहीं किया, बल्कि उपनिषदों ने प्रादिमकाल के बहुदेववाद का एक प्रकार से युक्ति पोषित रूप ढूंढ निकाला। इस तरह का समझौता क्योंकर हुआ—यह जानने के लिए सामाजिक वर्गों के आपसी सम्बन्ध का विश्लेषण करना चाहिए। किसी नये वग ने एकेश्वरवाद को प्रचारित नहीं किया था। एकेश्वरवादी दृष्टिकोण प्राचीन परम्परा से सवथा मुक्त नहीं था। यही कारण है कि बहुदेववादी ब्राह्मणों ने रहस्योन्मुख एकेश्वरवाद को ईश्वरीय सवसत्तावाद का रूप दे डाला। और इसीलिए भारत में सामाजिक और राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो सकी और न केन्द्रीभूत राजसत्ता का विकास हुआ। विचारणीय बात है कि क्रान्तिकारी बौद्ध धम के झंडे के नीचे बड़े-बड़े साम्राज्यों का उदय हुआ परन्तु वे ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सके। सामाजिक एकता के अभाव में केन्द्रीभूत सत्ता वाले राज्य छिन्न भिन्न हो गए। यहाँ न तो पूर्णत एकेश्वरवादी धम का विस्तार हुआ और न सामाजिक और राजनीतिक एकता स्थापित हुई।*

इतिहास क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के सघष की कहानी है। भारतीय इतिहास में बौद्ध जन और लिंगायत धम के द्वारा क्रान्तियाँ हुई। इन सब धर्मों ने वदिक धम और वर्णिक समाज का विरोध किया। इन्होंने समाज से ब्राह्मणों का आधिपत्य मिटाने की चेष्टा की और उच्च वग के विरुद्ध जन साधारण के अधिकारों का नारा बुलन्द किया।

बुद्ध ने समाजगत विरोधों की परीक्षा की। उन्होंने देखा कि वेदों के पुरोहितवाद के कारण समाज में असंतोष दुख है। ब्राह्मण पुरोहित जनता का आर्थिक और सामाजिक शोषण करते हैं विद्या पर ब्राह्मण वग का एकाधिकार है, वद विहित यज्ञादि हत्या का चारों ओर बोलबाला है जनता का कम फल में अन्ध विश्वास है लोग पेड़ और पत्थर को देवता रूप में पूजते हैं। जसा कि एम० एन० राय ने लिखा है इतिहास के विभिन्न युगों में तरह-तरह से अतिरिक्त सामाजिक अधिकार (सोशल सरप्लस) संचित होते रहते हैं। प्राचीन काल में बस। ही एक रास्ता था देवताओं के प्रति नवेद्यादि अर्पित करने का। और ये नवेद्यादि किस प्रकार अर्पित किये जाएँ यह पुरोहित ही बतला सकता था। इसीलिए हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ही उस जमाने के बकर थे। वे न केवल देवताओं के दलाल थे बल्कि समय समय पर देवताओं के प्रति अर्पित किये गए नवद्य के रूप में अतिरिक्त सामाजिक अधिकारों के संरक्षक भी थे। देवता के दलालों के लिए यह बड़ा ही मुनाफे का व्यापार था। वे जनता से

ज्यादा-से-ज्यादा वसूल किया करते थे। आज एक देवता क्रुद्ध है तो इसको प्रसन्न करने के लिए एक नहीं बल्कि तीन-तीन बकरियाँ अथवा दूसरी कोई चीज चढानी चाहिए। इस प्रकार इतना कुछ चढावा चढता था कि पुरोहित एकबारगी हजम नहीं कर सकता था। बचा हुआ चढ़ावा उसकी निजी सम्पत्ति हो जाती थी। इस तरह से धीरे धीरे सारा सामाजिक धन ब्राह्मणों के एकाधिकार में चला गया और वे समाज के शासक बन गए।[2] इस वैदिक ब्राह्मणवाद के विरुद्ध बौद्ध धर्म ने विद्रोह का शंख फूका। इसकी ध्वनि को जन-साधारण ने बडे चाव से सुना। बौद्ध धर्म न केवल परम्परागत ही धर्म का विरोधी था, बल्कि संस्कार-जर्जरित जातिबद्ध समाज-व्यवस्था के विरुद्ध घोर प्रतिरोध का भी सूचक था। लगभग हजार वर्षों तक इस धर्म ने ब्राह्मणवाद का मुकाबला किया, लेकिन अन्त में जीत ब्राह्मणवाद की हुई। बौद्ध धर्म की पराजय का एक कारण यह भी था कि वह धर्म उतना एकेश्वरवादी नहीं था, जितना कि नकारात्मक। अपने अन्तिम दिनों में तो वह धर्म मठवाद के दलदल में बुरी तरह फँस गया था और जिस भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उदित हुआ था उसी भ्रष्टाचार से स्वयं आक्रान्त हो गया था।[3] ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया के नायक शंकराचार्य ने अन्त में बौद्ध धर्म का श्राद्ध कर डाला। शंकराचार्य के महत्वाकांक्षापूर्ण एकेश्वरवाद के बल पर प्रतिक्रियावादी हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म का उन्मूलन तो कर दिया, परन्तु अपनी जड जमाने के लिए समाज में अज्ञान और अंधविश्वास को खूब प्रश्रय दिया।

हिंदू धर्म-तन्त्र चाहे बौद्ध युग के पहले का हो अथवा शंकराचार्य के जमाने का, उस पर एकाधिकार ब्राह्मणों का ही रहा। जनता के लिए वस्तुतः पतनोन्मुख पौराणिक अंधविश्वासों और जाति तथा छुआछूत सम्बन्धी सामाजिक पूर्वाग्रहों के सिवा दूसरा कोई धर्म नहीं बच रहा था। उन अंध विश्वासों और सामाजिक रूढ़ियों का कट्टरपंथी ब्राह्मण जाति बडी मुस्तैदी से प्रचारित और प्रोत्साहित करती थी।[4]

व्यापारी वर्ग की कमजोरी के कारण बौद्ध धर्म में पुनर्निर्माण की अपेक्षा विघटन की शक्ति ही अधिक सक्रिय थी। यह ठीक है कि बौद्ध धर्म के विद्रोह से वैदिक समाज की बुनियाद हिल गई और ब्राह्मणवादी व्यवस्था विनष्ट हुई। परन्तु साथ ही तत्कालीन शिथिल समाज व्यवस्था में विघटनकारी प्रवृत्तियों को भी विशेष बल मिल गया। बौद्ध धर्म के सगुण पक्ष से प्रेरित होकर नया समाज बनाने की अपेक्षा अधिकांश लोग उसके नकारात्मक पक्ष से ही प्रभावित हुए और नव निर्माण के कठिन पथ से पराङ्मुख होकर निर्वाण

की खोज में लग गए। अंततः बौद्ध समाज अपनी आन्तरिक कलह से जर्जर हो गया और प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणवाद के दुर्धर्ष आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सका।

बौद्ध धर्म को पराजित करके अपनी सत्ता पुनर्स्थापित करने के लिए ब्राह्मणों ने शंकराचार्य के नेतृत्व में तमाम दार्शनिक चिन्तनों को जोकि उपनिषदों में समाविष्ट हैं, छोड़ दिया और वेदों की ओर लौट चले। बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद का संघर्ष इतना दुर्धर्ष था कि सारा समाज उससे अस्तव्यस्त हो गया और साधारणजन आधिदैविक शक्तियों की उपासना करने लगे। महाशून्य में लय होने की अपेक्षा यह लोक परलोक अथवा किसी दूसरे जन्म में ही सुख पाने की आशा कहीं ज्यादा आकर्षक थी। इसलिए लोगों को ब्राह्मणवाद अधिक भाने लगा। ब्राह्मणों का नारा भी था 'देवताओं का पूजन करो, वे तुम्हारे इस जन्म के सभी कष्टों का मोचन करेंगे और यदि तुमने धर्म का पथ नहीं त्यागा तो वे तुम्हें अगले जन्म में यथोचित पारितोषिक भी देंगे।' यहाँ धर्म से तात्पर्य है मनुस्मृति जैसे धर्म शास्त्रों में वर्णित सामाजिक नियम। इस प्रकार अंततोगत्वा पुनर्जन्म, कर्म और माया सम्बन्धी शंकराचार्य के सिद्धान्त ने सभी प्रगतिशील शक्तियों का नाश कर डाला। इन सबमें कर्मवाद का सिद्धान्त सबसे प्रबल पुरावृत्त (मिथ) साबित हुआ है। कर्मवाद तथा उससे ही संलग्न भाग्यवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में हिन्दुओं का धार्मिक दृष्टिकोण तथा मानव-जीवन सम्बन्धी उनकी समस्त व्याख्या समाविष्ट है। श्री प्रवणराय लिखते हैं 'इस सिद्धान्त (कर्मवाद) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे और बुरे कर्मों का मीठा-कड़वा फल चखना पड़ता है। एक ही जन्म की अवधि में कार्य-कारण भेद का पता नहीं चल सकता। कर्मवाद का ही दूसरा पहलू है पुनर्जन्म का सिद्धान्त। फिर भी भारतीय रहस्यवाद (स्पिरिचुअलिज्म) का चरम लक्ष्य है निष्काम कर्म अर्थात् फल पाने की चिन्ता किए बिना कर्म करते जाना।

परन्तु कोई चाहे अथवा न चाहे जब उसके कर्मों का फल उसको मिलना ही वाला है तब भला वह फल की चिन्ता किए बिना किस प्रकार अपना धर्म करता जाएगा? वस्तुतः कर्मवाद और निष्काम कर्म का पारस्परिक विरोध स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल) और भाग्यवाद के आन्तरिक विरोध का सूचक है। भारतीय आधिदैविक चिन्तन का दूसरा आदर्श यह है कि कर्मों की शृंखला को एक दुष्ट आवर्त माना जाए और तब उसमें मुक्त होने की चेष्टा की जाए। यह आदर्श बहुत ही अधिकारपूर्ण शब्दों में गीता में प्रतिपादित है—'न किसी